

क ख ग

वि चारों का
त्रै मासिक

११

बच्चन सिंह

देवकीनंदन द्विवेदी

विद्यानिवास मिश्र

जगन्नाथस्वरूप माथुर

कृष्णनाथ

नगेन्द्र मणि

वीरेन्द्र अग्रवाल

प्रकाश परिमल

प्रमोद मोहन पाण्डेय

सचिदानन्द सिन्हा

जनवरी

१९६६

क ख ग

(विचारों का त्रैमासिक)

हरिमोहनदास टण्डन

(कोषाध्यक्ष और व्यवस्थापक)

५७, रानीमण्डी, इलाहाबाद

रघुवंश

(संयोजक)

१८४-ए, एलनगंज, इलाहाबाद

क ख ग के प्रस्तावक

रामसिंह तोमर	:	बदरीविशाल पित्ती	:	हरिमोहनदास टण्डन
कुंवर नारायण	:	विनयमोहन शर्मा	:	ओम प्रकाश शर्मा
देवराज	:	विद्यानिवास मिश्र	:	गोविन्द चन्द्र पाण्डेय
राकेश गुप्त	:	नरेशचन्द्र चतुर्वेदी	:	नित्यानन्द तिवारी
शिक्तार्थी	:	टीकमसिंह तोमर	:	उमा राव
जगदीश गुप्त	:	बालकृष्ण राव	:	प्रीति अदावल
आत्माराम शाह	:	विजयदेवनारायण साही	:	परमानन्द श्रीवास्तव
वीरेन्द्र कुमार भटनागर	:	ब्रजेश्वर वर्मा	:	विनोद दुबे
गोपालचन्द्र सिंह	:	अजित कुमार	:	पूरनचन्द पुरवार
कल्याणमल लोढ़ा	:	स० ही० वात्स्यायन	:	कृष्णा जी
मलयज	:	श्यामकिशोर सेठ	:	गंगाप्रसाद विमल
		श्रीराम वर्मा		

एक अंक २॥)

वार्षिक १०)

सम्पादक :

विपिन कुमार अग्रवाल

लक्ष्मीकान्त वर्मा

रामस्वरूप चतुर्वेदी

रघुवंश

क ख ग

११

जनवरी १९६६

- आधुनिक मानव-स्थिति ३ देवकीनन्दन द्विवेदी
भारत में मजदूर संगठनों के समक्ष चुनौती १५ जगन्नाथस्वरूप माथुर
बीएतनाम युद्ध और एशियाई सुरक्षा २७ सच्चिदानन्द सिन्हा
भारत, चीन और पाकिस्तान की विदेशी
नीति और उसके अभिग्रस्तीकरण ३८ प्रमोद मोहन पाण्डेय
हमारी संस्कृति के कुछ आधारभूत सत्य ४८ लक्ष्मीकान्त वर्मा
परम्परा और आज का कवि ५७ विद्यानिवास मिश्र

दृष्टिकोण

- हमारी आर्थिक समस्याओं का एक हल ६३ बीरेन्द्र अग्रवाल
युद्ध संदर्भ और हम ६६ प्रकाश परिमल
धर्म और आधुनिकता ७१ नगेन्द्र मणि
भारत की विदेश नीति और बदलता हुआ
विश्व शक्ति-संतुलन ७६ कृष्णनाथ

समीक्षा

- तिलस्मी खोह, लाल कुहरा और रक्तलोक पुरुष ७९ बच्चन सिंह
पत्र-प्रतिक्रियाएँ ८६

१९६६

पामसु



कृति या कृतिकार के प्रति भावक वर्ग में आस्थादन उत्पन्न करना ही वास्तविक आलोचना है। इस सन्दर्भ में आज की आलोचना की स्थिति क्या है? उसके प्रतिमान कहाँ हैं? उसका अर्थ क्या है?.....इन जलते प्रश्नों के बीच प्रस्तुत हैं—हिन्दी आलोचना की अधुनातन दिशा और उसकी उपलब्धियों का संकेत देती

ये महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

● विवेक के रंग

सम्पादक : डा० देवीशंकर अवस्थी

गत पन्द्रह वर्षों के विशिष्ट कृति-साहित्य पर प्रकाशित गणनीय समीक्षाओं का संकलन। हिन्दी में अपने प्रकार की प्रथम कृति। ७.००

● साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य

डा० रघुवंश

साहित्यिक मूल्य, आधुनिक काव्य, नयी प्रवृत्तियों की सच्ची और सैद्धान्तिक समीक्षा। सर्वथा संग्रहणीय और पठनीय कृति। ५.००

● मानव मूल्य और साहित्य

डा० धर्मवीर भारती

मानव मूल्य के सन्दर्भ में साहित्य और युगोन प्रवृत्तियों का विश्लेषण, परीक्षण तथा आकलन—कुछ मौलिक स्थापनाएँ। २.५०

● हिन्दी नवलेखन

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

यह कृति समसामयिक लेखन का मूल्यांकन तो है ही, उसके मूल्यों, प्रतिमानों के आकलन और भावबोध के स्तरों को उद्घाटित करने का सशक्त प्रयत्न है। ४.००

● हिन्दी गीतिनाट्य

डा० कृष्ण सिंहल

कृति में गीतिनाट्य को साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा मान कर पहली बार सागोपांग समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ४.००

प्रधान कार्यालय : ६ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७।

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५

विक्रय केन्द्र

३६२०। २१ नेताजी

सुभाष मार्ग; दिल्ली—६

आधुनिक मानव-स्थिति

—देवकीनन्दन द्विवेदी

भाग्य से हम ऐसे युग में जी रहे हैं जिसे मूल्यों के इतिहास में सबसे बड़ा संक्रमण काल माना जायगा। कहा जाता है कि सारे मूल्य ध्वस्त हो चुके हैं। जिन्हें अब भी उन मूल्यों से मोह है, वे आये दिन हमें कोसते रहते हैं। जो कुछ प्रगतिशील हैं या बनना चाहते हैं, कहते हैं—पुराने मूल्य तो चले या चले गये पर उनको जगह नये मूल्यों की स्थापना नहीं हुई। दोनों प्रकार के लोग एक बिन्दु पर मिलते हैं, वह यह कि हम बहुत ही बुरे समय में रह रहे हैं और यह घोर अनास्था का युग है। दोनों प्रकार के बुद्धिजीवियों को इसका सख्त रंज है।

ऐसा नहीं है कि यह संक्रमण चुपके से अथवा एकाएक आया हो। वह तो आया और कैटरपिलर की तरह बढ़ता रहा। अब इसमें कोड़े का क्या दोष कि उसकी उपस्थिति का पता तब चला जब पत्ते का काफ़ी हिस्सा खाया जा चुका था। या कि चूहों की जगह आदमी मरने लगे तभी लोगों ने माना कि प्लेग आ चुका है। शायद मनुष्य का स्वभाव ही है भय को अस्वीकार कर उसकी सत्ता को झुठलाना। कम से कम जब तक वह दरवाज़ा तोड़ कर अन्दर न आ जाय।

संक्रमण पहले पश्चिम में आया। ईसाई धर्म के मूल्य कृषि प्रधान संस्कृति के अनुकूल थे। हरे भरे मैदान, लहलहाती प्रकृति, रंग विरंगे फूल। सामन्ती शासन व्यवस्था। बागों, खेतों, पर्वतों, नदियों की संस्कृति। फुसंत से रहते हुये लोग। स्पेंसर से त्रिजेस तक सभी कवियों ने इस जीवन का चित्रण किया है। व्यक्तिवाद और मानववाद इस जीवन के प्रधान मूल्य थे, किन्तु धीरे-धीरे सभी तरफ़ परिवर्तन आया। डार्विन का विकासवाद प्रतिष्ठित हो चला, विज्ञान की प्रगति से औद्योगीकरण तेज़ी से हुआ। इसी बीच में प्रथम विश्वयुद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि आर्थिक और सामाजिक दोनों व्यवस्थाओं में मूलभूत परिवर्तन हुए। औद्योगीकरण के कारण शहरी जीवन तेज़ी से बढ़ा। और चिड़ियों की जगह मशीनों की आवाज़ों ने ले ली, बड़े-बड़े मकानों के स्थान पर छोटे-छोटे क्वार्टर बने। ऋतुओं का ज्ञान प्रकृति से नहीं कलेंडरों से होने लगा। जीवन व्यस्त हो चला। एक क्षण की भी फुसंत नहीं। ऐसे जीवन में पुराने आध्यात्मिक मूल्यों का टूटना अनिवार्य था।

साहित्यकारों और दार्शनिकों का ध्यान इस ओर गया, इन्हें लगा कि सारा संसार आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति शत्रुतापूर्ण हो गया है। सारा जीवन एक प्रकार के भय से त्रस्त है। पश्चिमी कवियों में शायद इलियट पहला व्यक्ति था जिसने जीवन के इस नये रूप को

ध्यान से देखा। इलियट बचपन में ही भ्रष्ट और खोखली अमेरिकी संस्कृति से परिचित था। उसने अभिव्यक्ति के नये माध्यमों का निर्धारण किया जो इस जीवन की उदासी, भय और ऊब को स्पष्ट कर सके। उसने आधुनिक शहरी जीवन के भद्दे नंगे रूप का सफल चित्रण किया, जैसे सारी चीजें मृत, शुष्क और बाँझ हैं। आधुनिक मन जैसे एक द्रष्टा मात्र रह गया है—कुछ भी करने में असमर्थ।

भय, ऊब और असमर्थता आधुनिक जीवन की विशेषताएँ हैं। जैसे सारा संसार रिक्त हो गया है। सत्य, शिव, सौन्दर्य कुछ भी नहीं है। हैं केवल रिक्त मानव, जिनका न गौरव-पूर्ण अतीत है न उज्ज्वल भविष्य। इस जीवन में कहीं एडवेंचर नहीं—प्रेम भी नहीं। एडवेंचर करने वाले सिर्फ़ क्विक्जोट हो सकते हैं। लोग सिर्फ़-हक्सले के उपन्यासों के पात्र हैं—उनके जीवन में अर्थ, प्रेम, आस्था, उत्तरदायित्व, उत्साह कुछ भी नहीं है। जैसे मृत्यु ने उन्हें निगल लिया है और उसकी अंतड़ियों में लोग ठुसे पड़े हैं। जहाँ वे खुल कर साँस भी नहीं ले सकते। लोग मरी हुयी धरती के निवासी हैं। दूर तक फैला वेस्टलैन्ड, जहाँ बस कैक्टस उगते हैं। आशा की एक किरण अवश्य है—पर प्राप्ति या भाव की नहीं। अभाव ही पूर्णता है। समाप्ति ही नियति है।

ऐसे जीवन और साहित्य के प्रति दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुयीं। एक तो उन्हीं लोगों की प्रतिक्रियायें जिन्होंने इस चित्र को सामने रखा। इन्होंने माना कि आध्यात्मिक मूल्यों की पुनर्स्थापना से आधुनिक मानव की नियति बदली जा सकती है। इस बात का उन्हें दुःख है कि आधुनिक युग में मूल्यों में संक्रमण आया। वे प्रायः यह कहते हैं कि पुराने मूल्य समाप्त हो गये किन्तु नये मूल्य नहीं स्थापित हुए। और उनके विचार से इस स्थिति की रामबाण औषधि आध्यात्मिक मूल्यों में ही है। आधुनिक जीवन की सारी वीभत्सता इसलिए है क्योंकि उसने पुराने मूल्यों को छोड़ दिया है। संभवतः इलियट का वेस्टलैन्ड भी धार्मिक मूल्यों और आदिम पाप (Original sin) से मुक्त नहीं है। बाद का इलियट तो निश्चित रूप से धार्मिक कवि है जिसकी दृष्टि में आत्मा की दरार क्राइस्ट के स्पर्श से पट जायगी। दूसरे वे लोग हैं जिन्होंने इस संक्रमण का अस्तित्व ही नहीं माना। उन्होंने उस सारे साहित्य को बेहूदा, अश्लील और अनैतिक बताया, जिसमें उपर्युक्त चित्रण किया गया था। इतना तो उन्होंने माना कि आज लोग स्थापित मूल्यों को उतनी दृढ़ता से नहीं अपना रहे हैं। पर वे कहते हैं कि ऐसे लोगों की भर्त्सना की जानी चाहिये। उन्हें किसी प्रकार का बढ़ावा नहीं देना चाहिये। नहीं, साहित्य में भी नहीं। जो लोग ऐसे चरित्रों का निर्माण करते हैं, जो स्थापित मूल्यों को नहीं मानते, उनकी कृतियाँ अश्लील और अनैतिक हैं। इस मत के विद्वान् इतना भी मानने को तैयार नहीं हैं कि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है। पुनर्मूल्यांकन शब्द से ही उन्हें चिढ़ है। उनके विचार में मूल्य शाश्वत हैं क्योंकि या तो वे ईश्वर निर्मित हैं (अतः जब तक ईश्वर है उनके मूल्यहीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता) अथवा उनकी स्थिति प्रमुख भौतिक नियमों जैसी है। हम केवल मूल्यों की खोज कर सकते हैं। (जैसे कोलम्बस ने अमेरिका ढूँढ़ निकाला था या न्यूटन ने आकर्षण शक्ति का नियम खोजा था)। इस खोज में भी ईश्वर की कृपा (कृपा) अनिवार्य है। नहीं तो फिर ईश्वरीय दूतों क ख ग—११

(पेगम्बरों, मसीहा, अवतार, ऋषि) और उनके प्राप्त वाक्यों का ही सहारा है। उनके अनुसार सत्य, शिव और सुन्दर शाश्वत् ही नहीं निश्चित प्रत्यय हैं। उनके द्वारा ही जगत् का नियंत्रण होता है। वे मानते हैं कि डार्विन, मार्क्स और फ्रायड को लोगों ने बहुत बढ़ा दिया है। लोग तो बिल्कुल उस बच्चे की तरह हैं जो अपना खिलौना छिन जाने पर सोचने लगा कि उसकी दुनियाँ छिन गयी और बाकी दुनिया उसकी शत्रु है।

वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक मानव सचमुच में स्थापित मूल्यों में आस्था नहीं रखता या कम से कम उनसे उदासीन हो गया है। इसका कारण भी बहुत कुछ आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन है। जिन ब्रिटिश और अमरीकी साहित्यकारों ने इन स्थितियों का चित्रण किया है, उनकी कृतियों में पर्याप्त सचाई है। पर अमरीका और ब्रिटेन के चिन्तकों ने इन स्थितियों का शास्त्रीय विश्लेषण नहीं किया। अतः उन्होंने या तो स्थिति के चित्रण तक अपने को सीमित रखा अथवा पीछे मुड़ कर ईसाई धर्म के मूल्यों की ही वकालत की। मूल्यांकन का विशेष प्रयास महाद्वीपीय दार्शनिकों और साहित्यकारों ने किया है। कोई भी लेखक उनके विश्लेषण की उपेक्षा नहीं कर सकता। सम्भवतः उनके विचारकों ने मानव-स्थिति को अधिक निकट से समझा है। मूल्यांकन का स्वरूप जानने के लिए उनके विश्लेषण का अध्ययन आवश्यक है।

इन विचारकों की चिन्तन प्रतिक्रिया के पीछे एक महत्त्वपूर्ण इतिहास है। मनुष्य की सर्वप्रथम ज्ञात परिभाषा अरस्तू की है। उसने मनुष्य की बौद्धिक पशु कहकर उसकी तात्त्विकता बुद्धि को माना। इस विचार का बीज प्लेटो और हेराक्लाइटस में पहले से ही था। हेराक्लाइटस का “लोगस” बुद्धि है जो विश्वात्मा और वैयक्तिकात्मा दोनों है। प्लेटो और अरस्तू ने बुद्धि को ही मनुष्य की वास्तविक आत्मा माना। बुद्धि ही मनुष्य का रूपाकार है। इसी तरह बोयथियस (Boethius) और अक्विनास के अनुसार प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति है जिसका वास्तविक स्वरूप उसकी बौद्धिकता है। इन विचारकों की दृष्टि में मनुष्य एक द्रव्य है जिसका निश्चित स्वरूप है। वह कोई भी कार्य करे अथवा न करे, उसका द्रव्यत्व उससे प्रभावित नहीं होता। डेकार्ट ने इस सिद्धान्त को अति तक पहुँचा दिया। किसी भी व्यक्तिवादी अथवा अस्तित्ववादी व्याख्या को समझाने के लिये डेकार्ट के दर्शन का ज्ञान एक अनिवार्य शर्त है।

डेकार्ट ने स्वचेतनता (Self-Consciousness) पर बल दिया। उसके अनुसार आत्मा विचार प्रधान द्रव्य है। जिसका तत्त्व ‘मैं सोचता हूँ’ है। आत्मा में चिन्तन ही प्रधान है। सभी प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने स्वचेतना को मनुष्य का अनिवार्य स्वरूप माना है। हेगल में इस विचारधारा को चरम परिणति हुई। इस प्रकार डेकार्ट ने चिन्तन को प्रधान मान कर संकल्प, इच्छा तथा अन्य मानवीय तत्त्वों की उपेक्षा ही की। डेकार्ट के दर्शन की मुख्य दूसरी बात उसका ईश्वर संबंधी विचार है। उसके अनुसार आत्मा और जगत् दोनों का अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर है। सभी अपूर्ण वस्तुएँ (मनुष्य भी) सकारण हैं। उनका परम और अन्तिम कारण ईश्वर है। डेकार्ट के अनुसार ईश्वर अस्तित्व का ही कारण नहीं है, बल्कि सत्य का भी अधिष्ठाता है। ईश्वर के ही कारण सत्य एवं शिव का अस्तित्व है। सर्वशक्तिमान् एवं पूर्ण शिव ईश्वर के अस्तित्व से ही जगत् और जीव की सत्तासिद्ध की जा सकती है। डेकार्ट के इन विचारों को परवर्ती दर्शन में किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। वार्कले ने प्रकृति को ईश्वर की

भाषा माना और कान्ट ने भी प्रकृति की सोद्देश्यता को ईश्वर के अस्तित्व के लिए विशेष महत्त्व दिया। पर व्यक्तिवादी एवं अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने डेकार्ट की इन दोनों मान्यताओं को विरोध किया। उन्होंने व्यक्ति के चिन्तन पर नहीं बल्कि स्वतंत्रता पर जोर दिया। मनुष्य की वास्तविकता उसकी स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता मनुष्य की अनिवार्यता है। सारत्र के शब्दों में मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए बाध्य है। स्वतंत्रता की सफल और संतोषजनक व्याख्या के लिए बौद्धिकता और ईश्वर का भी निषेध किया गया। यदि मनुष्य की तात्त्विकता ईश्वर द्वारा निर्धारित है तो वह स्वतंत्र नहीं हो सकता। किन्तु स्वतंत्रता अनुभूत तथ्य है। अतः ईश्वर नहीं है। तब जगत का कारण भी ईश्वर नहीं है। अतः जगत् अर्थहीन और एवर्सड है।

ऊपर के विवेचन से यह आभास हो सकता है कि अस्तित्ववादियों ने डेकार्ट के विचार का पूर्णतः निषेध किया। किन्तु ऐसा नहीं है। सारत्र के दर्शन का प्रस्थान विन्दु डेकार्ट का ही है। किन्तु इसका अर्थ सारत्र संकल्प करता है। और संकल्प ही स्वतंत्रता का मूल स्रोत है। सारत्र के अनुसार Cogits का अर्थ स्वतंत्रता की चेतना है (awareness of freedom)। डेकार्ट ने ही सारत्र के अनुसार सबसे पहले चिन्तन की स्वतंत्रता मानी। मनुष्य केवल कल्पनात्मक चिन्तन में ही स्वतंत्र नहीं है। अपितु असत्य को अस्वीकृत करने में भी स्वतंत्र है। किन्तु सारत्र की दृष्टि में स्वतंत्रता का यह अर्थ संतोषजनक नहीं है। डेकार्ट ने सर्जनात्मक स्वतंत्रता केवल ईश्वर में माना है। यही उसका दोष था। सर्जनात्मक स्वतंत्रता मनुष्य का गुण है। कुछ भी हो सारत्र इस बात के लिये डेकार्ट की प्रशंसा करता है कि उसने स्वतंत्रता को अस्तित्व का मूल तत्त्व मानी। सारत्र के अनुसार असत्य को स्वीकारना या अस्वीकारना सर्जनात्मक ही है। मनुष्य की स्वतंत्रता उसके होने में है। मनुष्य जो कुछ भी होने का वरण करता है वही है। उसकी तात्त्विकता वह जो कुछ करना चाहता है उसमें निहित है। यही नहीं वह क्या जानना चाहता है यह भी उसकी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है और उसके वरण पर ही निर्भर है।

सारा प्रश्न मनुष्य के स्वरूप और उसके परिवेश के विश्लेषण से उत्पन्न होता है। मनुष्य जिस जगत् में रहता है उसका स्वरूप क्या है? स्वयं उसकी नियति क्या है? डेकार्ट से हेगल तक यह प्रयत्न रहा कि मनुष्य का अस्तित्व ईश्वरीय अस्तित्व का अंग है। हेगल के अनुसार मनुष्य केवल पूर्ण (Absolute) की स्वअभिव्यक्ति में क्षण (Moment) मात्र है। किर्केगार्ड ने इस मत की तीव्र आलोचना की और मनुष्य की सर्जनात्मक स्वतंत्रता पर बल दिया। प्रत्ययवादी दर्शन मानव-स्वतंत्रता का एक मात्र शत्रु नहीं है। विकासवाद दूसरा शत्रु है। विकासवादियों के अनुसार प्राकृतिक-विकास में मनुष्य एक अस्थायी अवस्था मात्र है। इस प्रकार प्रत्ययवाद और प्रकृतिवाद दोनों में व्यक्तित्व भ्रम बन कर रह जाता है। व्यक्तिवादी तथा अस्तित्ववादी चिन्तकों ने मनुष्य की स्वतंत्रता और पृथक् सत्ता को मान्यता दी है। मुख्य प्रश्न परिवेश अथवा प्रकृति के स्वरूप से सम्बन्धित है। अधिकांश दार्शनिकों की दृष्टि में प्रकृति ईश्वर की अभिव्यक्ति होने के कारण एक विशेष प्रकार की व्यवस्था है। यह हो सकता है कि उस निश्चित व्यवस्था को विचार और भाषा की विधाओं द्वारा पूर्णतः व्यक्त न किया जा सके। इसीलिए लाइब्निट्स ने सभी वस्तुओं में सुनियोजित पूर्व व्यवस्था मानते हुए भी तथ्यों में विभ्रंखलता को माना। प्रत्ययवाद के सबसे बड़े समर्थक हेगल को भी प्रकृति में अस्तव्यस्तता

माननी पड़ी। प्रकृति की पूर्णतः बौद्धिक व्याख्या नहीं की जा सकती, इस अनुभव की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। प्रत्ययवादियों ने अनुभव और बुद्धि में अन्तर कर वास्तविक सत्ता को बौद्धिक माना। कुछ लोगों ने माना कि वास्तव में पूर्ण और प्रकृति में पूर्ण सामञ्जस्य है (हेगेल, ब्रेडले) और प्रकृति की अव्यवस्था केवल आभास है। दूसरों ने प्रकृति को पूर्णतः भ्रमात्मक कह कर केवल पूर्ण की सत्ता मानी (पारमेनाइडीज़, नागार्जुन, शंकर) इसी प्रकार मूल्यवादियों ने जगत् के तथ्यों का नियन्त्रण श्रेयों द्वारा माना। प्रो० अलेक्जेंडर के अनुसार यद्यपि जगत् दिक् काल से विकसित होता है, किन्तु विकास की एक निश्चित अवस्था पर मूल्यों का आविर्भाव होता है। प्लेटो ने श्रेय (Good) को ही सभी अस्तित्व का स्रोत माना। परम मूल्य ही सभी अस्तित्वों का मूल्य है। हार्टमान ने इस दिशा में विशेष प्रयास किया है। अन्त में आस्तिक अस्तित्ववादियों ने ईश्वर को परम मूल्य माना। किर्कगार्ड ने हेगेल के पूर्ण स्थान पर वैयक्तिक ईश्वर को माना। उसने नैतिक विधान और ईश्वर दोनों की स्थापना की। मनुष्य स्वतन्त्र वरुण के द्वारा इन दोनों को स्वीकारता है। इस प्रकार मनुष्य और ईश्वर के बीच वैयक्तिक सम्बन्ध है। मार्सेल ने भाववादियों एवं प्रत्ययवादियों की आलोचना की। मनुष्य मार्सेल की दृष्टि में एक मूर्त जीवित व्यक्ति है। जिसका अन्तर्भाव न तो अनुभवात्मक जीव में किया जा सकता है न पूर्ण अंशों में किर्कगार्ड और मार्सेल, यास्पर्स ने व्यक्ति और ईश्वर के खुले सम्बन्धों पर बल दिया है। इन सभी व्याख्याओं के मूल में यह मान्यता है कि जगत् अबौद्धिक है। तथ्यों के मूल की खोज उन्हें ईश्वर तक ले जाती है। मनुष्य एवं ईश्वर के वैयक्तिक सम्बन्धों से ही व्यक्ति की वास्तविक सत्ता सिद्ध होती है। मोनियर (Mounier) के अनुसार मनुष्य कर्त्तव्यों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वामित्व, वरुण, निर्माण और आत्मविजय है। मनुष्य आध्यात्मिक व्यक्ति है और उसकी आध्यात्मिकता उसके और ईश्वर के सम्बन्ध पर निर्भर है।

सभी आस्तिक अस्तित्ववादियों के अनुसार नैतिक नैतिकता मनुष्य का वास्तविक स्वरूप नहीं है। नैतिक नैतिकता अवास्तविक अस्तित्व है। वह नैतिकता है। मनुष्य न तो गवाहहीन चेतनाएँ है न सामूहिक व्यक्तित्व की एक ऊँति। वह बूर्जुवा सर्वथा विकासशील प्राणी है जो निरन्तर अपना अतिक्रमण करता रहता है। जो अपनी अतिक्रमणशीलता को नहीं पहचानता, वह अपना ही बन्दी है। वह कभी नैतिक-नैतिकता से ऊपर नहीं उठ सकता। सारा भय, कुण्ठा, निराशा इसीलिए है क्योंकि आधुनिक मानव अपने वास्तविक रूप से विमुख रहता है। वह केन्द्र से हट कर परिधि पर चल रहा है, वह ऐसा मनुष्य है जिसकी नैतिक या आध्यात्मिक स्वतन्त्रता नहीं है। जिसका सब कुछ कृत्रिम है जो भीड़ का एक सदस्य भर है जिसका अपना कोई जीवन नहीं है। उसका सारा रहन-सहन यांत्रिक है, अनुकरण मात्र। मनुष्य की प्रवृत्ति है अवास्तविक होने की। यही पलायन है—वास्तविक मनुष्य का अवास्तविकता को ओर। मनुष्य की वास्तविकता उसके स्वातिक्रमण और स्वनिर्माण में है। वह निरन्तर अपने को प्राप्त करता है। स्वनिर्माण स्वतन्त्रता की उपलब्धि है। किन्तु स्वतन्त्रता और स्वनिर्माण का आधार प्रतिबद्धता (कमिटमेन्ट) है। और यह कमिटमेन्ट मनुष्यों का ईश्वर के प्रति है। मानवीय स्वतन्त्रता लक्ष्यहीन नहीं है। उसका लक्ष्य ईश्वर है। उसके सारे कार्य ईश्वर के परि-

प्रेक्ष्य में हैं। दूसरों से प्रेम तथा ईश्वर से बैयक्तिक सम्बन्ध द्वारा मनुष्य स्वनिर्मित वृत्त का अतिक्रमण कर सकता है। यही उसकी स्वतन्त्रता और वास्तविक सत्ता है।

किन्तु नास्तिक अस्तित्ववादी विचारक इस समाधान से सहमत नहीं हैं। उन्होंने जगत् की अधिक तीक्ष्ण व्याख्या की है। उनके अनुसार जगत् अबौद्धिक ही नहीं पूरी तरह एव्सर्ड और अर्थहीन है। प्रेनियर, सार्त्र और कामू ने एव्सर्डिटी का सविस्तार चित्रण किया है। प्रेनियर ने अपनी पुस्तक 'वरण' में लिखा कि हम संसार में नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि संसार बुरा है बल्कि यह कि संसार उदासीन है। कामू ने 'मिथ आफ सिसिफ़स' और सात्र ने 'ला नासिय' में इस विश्लेषण को आगे बढ़ाया। एव्सर्डिटी का अर्थ है कि जगत् की व्याख्या किसी तरह से नहीं की जा सकती। यहाँ पर कोई व्यवस्था नहीं है। इतना तो सभी ने माना है कि प्रकृति में—अस्तव्यस्तता और विभ्रंखलता है। पर उन लोगों ने इसका कोई न कोई समाधान दिया है। या तो जगत् और परम सत्ता में वास्तविक विरोध नहीं है और उनका सामंजस्य संभव है या प्रकृति केवल आभास है और परमसत्ता पूर्णतः अबाधित है। जो बाधित है उसका न तो वास्तविक अस्तित्व है न मूल्य। जो अबाधित है वही सत् है। वही परम श्रेय है। जगत् निस्सन्देह बाधित है, एव्सर्ड है किन्तु जगत् के अतिरिक्त एक अन्य सत्ता है जो अबाधित है और वास्तविक है चाहे वह हेगेल और ब्रेडले का पूर्ण हो, चाहे किर्कगार्ड, यास्पर्स और मार्सेल का ईश्वर, चाहे नागार्जुन का शून्य या फिर शंकर का ब्रह्म। किन्तु कामू के अनुसार यह समाधान नहीं अपितु एव्सर्ड के समक्ष पराजय की स्वीकृति है। यह क्रान्ति का नहीं बल्कि पराभव का स्वर है। मूल प्रश्न है कि यदि जगत्, अस्त मूल्यरहित, अर्थहीन और एव्सर्ड है, यदि जगत् में अस्तित्व का कोई तुक नहीं है तो क्यों जीवित रहा जाय ? क्यों न आत्महत्या कर ली जाय ? आत्महत्या निस्सन्देह भयावह है। इससे बचने का एक मात्र उपाय अर्थ, सत्ता और श्रेय की उपलब्धि है। जगत् भले ही एव्सर्ड हो किन्तु मनुष्य एव्सर्ड नहीं है, न ईश्वर एव्सर्ड है। जो सभी अस्तित्वों एवं मूल्यों का श्रोत है। पर कामू के अनुसार ये सारे समाधान एव्सर्ड को झुठला कर ही किये जा सकते हैं। किन्तु एव्सर्डिटी तभी सार्थक है जब मनुष्य और जगत् का विरोधपूर्ण द्वैत बना रहे। ईश्वर की कल्पना एक अवास्तविक और अनैतिक समाधान है ! ऐसा तभी संभव है जब मनुष्य की बुद्धि एव्सर्डिटी से सामंजस्य स्थापित कर ले। यास्पर्स और किर्कगार्ड तो एव्सर्ड को—महामहिम बना देते हैं। यास्पर्स के अनुसार तो सम्पूर्ण प्रकृति अर्थपूर्ण प्रतीक है जिसको अर्थवत्ता देकर ही ईश्वर से संभाषण संभव है। चेस्टोव ने ईश्वर और एव्सर्ड का तादात्म्य भी कर दिया है। हुसल ने सभी वस्तुओं में तात्त्विकता मान ली। कामू के अनुसार ये समाधान नहीं, केवल पलायन हैं। सार्त्र के अनुसार ये सभी समाधान गंभीर प्रवृत्ति के परिचायक हैं। सार्त्र के अनुसार मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र है। स्वतंत्रता मनुष्य का एक गुण नहीं बल्कि अनिवार्यता है। मनुष्य का अस्तित्व और उसकी स्वतंत्रता एक ही है। अस्तित्व की सभी विधाएँ स्वतंत्रता की अभिव्यक्तियाँ हैं। मनुष्य की स्वतंत्रता उसके वरण में ही नहीं है बल्कि वह किन विधाओं में जगत् को जानता है, किन सत्तों को स्वीकार करता है, किन असत्तों का निषेध करता है, किन लक्ष्यों का निर्धारण करता है, किन साधनों का उपयोग करता है, किस प्रकार भावों

और संवेगों की अभिव्यक्ति करता है, सभी में उसकी स्वतंत्रता व्यक्त होती है। वह मूर्खतापूर्ण व्यवहार करने अथवा असफलता का वरण करने में भी स्वतंत्र है। इस प्रकार मनुष्य न केवल वरण और कार्य में स्वतंत्र है, बल्कि ज्ञान और अनुभूति में भी स्वतंत्र है। किन्तु हर क्षेत्र में स्वतंत्रता बहुत बड़े उत्तरदायित्व से बँधी है। जितनी अधिक उतना ही बड़ा उत्तरदायित्व का बोझ है। इतना भारी बोझ कि मनुष्य सह नहीं सकता तो स्वभावतया वह कुछ चालों, कुछ बहानेबाजियों का सहारा लेता है। पहले तो यह मान लेता है कि बहुत सारी बातें अनिवार्य हैं जिनमें वह कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। कभी व्यंग का माध्यम अपनाता है जिससे उसका निश्चित मत न व्यक्त हो। किन्तु उत्तरदायित्व से बचने की सबसे बड़ी चाल और बहानेबाजी बुरी आस्था (Bad faith) है। बुरी आस्था इन सिद्धान्तों में निहित है कि वस्तुएँ (अथवा घटनाएँ) दूसरी तरह से नहीं हो सकतीं। जीवन का एक—निश्चित मार्ग है, और मूल्यों का एक सार्वभौम वस्तुगत संस्थान है। परम श्रेयों में विश्वास बुरी आस्था का ही परिणाम है। किसी भी पूर्व निर्धारित कर्तव्य योजना अथवा निरपेक्ष आदेश के पीछे बुरी आस्था ही छिपी है। जो ऐसा मानता है वह अपनी स्वतंत्रता को नकारता है। मनुष्य का कोई पूर्वनिर्धारित कर्तव्य और स्वत्व नहीं है। जीवन एब्सर्ड है क्योंकि उसका कोई प्रमाणीकरण नहीं है। कुछ भी अनिवार्य नहीं है। सब कुछ व्यभिचारी है। वस्तुओं की परिवर्तनशीलता एवं व्यभिचारिता से ही एब्सर्डिटी उत्पन्न होती है। वस्तुओं की अव्यवस्था उनका किसी सिद्धान्त द्वारा समझ में न आने से ही नासिया, ऐंग्लिश और एब्सर्डिटी की भावनाएँ उपजती हैं। किन्तु मूल्यों के संस्थान अथवा ईश्वर को मान कर इन भावनाओं से बचना गंभीर रूप से बुरी आस्था को स्वीकारना ही है। इस प्रकार कामू और सार्त्र के अनुसार जगत् और मनुष्य की एब्सर्डिटी झुठलाई नहीं जा सकती। कहीं भी व्यवस्था, अर्थवत्ता, अथवा अनिवार्यता नहीं है! जो अतिमानव सत्ता को मानता है वह विद्रोही नहीं हो सकता। कामू के अनुसार जीवन एब्सर्डिटी को जीवित रखने में है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य निरन्तर एब्सर्डिटी को देखता रहे। दृष्टि क्षेत्र से बाहर होते ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

अब प्रश्न है : यदि सब कुछ एब्सर्ड है, कहीं कोई तुक नहीं, व्यवस्था नहीं तो जीवित क्यों रहा जाय ? वही पुराना प्रश्न। कामू का उत्तर है : न जीवित रहने का भी कोई औचित्य नहीं है। आत्महत्या का भी कोई सत्यापन या प्रमाणीकरण नहीं है। यह उसी प्रकार पराजय को स्वीकारना है जैसे परम श्रेयों या ईश्वर को मानना। तब ? और इस तब का उत्तर ही कामू की मौलिकता है। वह उत्तर है जीवन का भोग। उसके अनुसार एब्सर्डिटी की मान्यता मनुष्य को सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त कर देती है और केवल एक निश्चितता रह जाती है : जीवित रहने की अनुभूति। जीवन का उपभोग मात्रात्मक है गुणात्मक नहीं। जीवन अच्छा या बुरा नहीं है (नैतिक अर्थ में) केवल कम या अधिक है। जीवन एब्सर्ड अवश्य है किन्तु उसको जान कर हम मुक्त भी हो जाते हैं, क्योंकि तब हम किसी शाश्वत, अतिमानवीय सत्ता अथवा मूल्य को नहीं मानते। प्रत्येक अनुभव का समान मूल्य है। जो अनुभव जैसे आता है उसे वैसे ही स्वीकारते और जीते हैं। इस प्रकार जीवन केवल मात्रात्मक है। कोई गुण, कोई मूल्य

नहीं है, क्योंकि हम किसी के लिए नहीं जीते। जीने में कोई उद्देश्य नहीं है। हम क्रियारत रहते हैं क्योंकि ऐसा न करने का कोई कारण नहीं ! किन्तु मात्रात्मक जीवन पूरी तरह जिया जाना चाहिये। बौद्धिक मांग शारीरिक मांग से किसी प्रकार श्रेष्ठतर नहीं है, अतः जीवन के सुखद संवेदनों का पूर्ण भोग ही अभीष्ट है। डान जुआन (जो कई स्त्रियों का प्रेमी है), अभिनेता (जो कोई चरित्रों का अभिनय करता है), विजेता (जो कई देशों पर विजय प्राप्त करता है) और कलाकार (जो तमाम कल्पनाओं को मूर्त रूप देता है) कामू के आदर्श मानव हैं।

इस उत्तर में कामू की मौलिकता है और यही उसकी कमजोरी भी। कामू कभी भी इस बात पर सैद्धान्तिक रूप से विचार नहीं करता कि निराशा और एब्सर्डिटी से किस प्रकार क्रियात्मकता और तीव्र उत्तेजनापूर्ण जिजीविषा उत्पन्न होती है। बिना कोई औचित्य बताये हुये कामू उस सुखवादी दर्शन के निकट पहुँच जाता है, जो प्रतिपल को अनिश्चित मान कर प्रति पल के तीव्रतम भोग को ही आदर्श मानता है। किन्तु प्रतिपल अनिश्चित है इससे अनिवार्यतः यह नहीं सिद्ध होता कि हर क्षण भोग्य है। बिना किसी शाश्वत सत्ता अथवा परम मूल्य को माने हुए (जिसकी कामू आलोचना करता है) अन्य प्रतिक्रियाएँ भी संभव हैं। एक विकल्प हो सकता है भोग मात्र से विरति। कामू का शायद यह उत्तर हो कि भोगहीन जीवन संवेदन हीन जीवन है जो संभव नहीं। किन्तु क्या यह ठीक है ? अन्त में भोगपूर्ण जीवन अनिवार्यता है अथवा एक विकल्प मात्र ? यदि केवल एक विकल्प है तो यही विकल्प क्यों ? और यदि अनिवार्यता है तो क्या जीवन की एब्सर्डिटी से इसका विरोध नहीं ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार किये बिना कामू का जीवन-दर्शन समझाया नहीं जा सकता। अब हमें देखना है कि कि सार्त्र का क्या समाधान है।

कामू की साहित्यिक प्रतिभा निस्सन्देह महान् है किन्तु उसमें सैद्धान्तिक विश्लेषण की परिपक्वता नहीं है। यही नहीं उसके सैद्धान्तिक विश्लेषण और साहित्यिक कृतियों में पूरी तरह मेल भी नहीं है। 'प्लेग' में जो मानवीयता देखने को मिलती है उसकी व्याख्या केवल एब्सर्डिटी से नहीं की जा सकती। किन्तु सार्त्र में यह बात नहीं है। सार्त्र एब्सर्डिटी को मानते हुये भी निरन्तर उसका अतिक्रमण मानता है। मूल्यों की उद्भावना मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। इसे समझने के लिए सार्त्र के दर्शन का संचिप्त अवलोकन आवश्यक है। सार्त्र, जैसा पहले कहा जा चुका है, डेकार्ट के दर्शन से अपना विचार प्रारम्भ करता है। डेकार्ट के अतिरिक्त सार्त्र पर ब्रैन्टानो, हुसर्ल और हेगेल का प्रभाव है। सार्त्र के अनुसार डेकार्ट की सबसे बड़ी देन उसका यह सिद्धान्त है कि मानव चेतना प्रयोजनात्मक है। किन्तु यह सिद्धान्त ब्रैन्टानो ने विकसित किया। उसने यह माना कि चेतना निर्विषयक नहीं होती। उसका कुछ न कुछ विषय अवश्य होता है, चाहे विषय का अस्तित्व हो या न हो। माइनांग और हुसर्ल ने इस सिद्धान्त के आधार पर अपने दर्शनों का विकास किया। सार्त्र भी इस विश्लेषण को मानता है। दूसरी बात जो सार्त्र 'डेकार्ट' की देन मानता है, वह यह है कि चेतना सदैव स्व-चेतन होती है। इसके द्वारा फ्रायड के सिद्धान्तों का खण्डन करता है। चेतना सदैव स्व-चेतना होती है। उसमें अचेतना का कोई तत्त्व नहीं होता। अतः सार्त्र के अनुसार मनुष्य के कार्यों का अचेतन हेतु नहीं

होता। तीसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'अभाव' है जिसे सार्त्र ने संभवतः हेगेल से लिया था। सार्त्र के दर्शन में प्रथम और तृतीय सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। चेतना का कोई न कोई विषय अवश्य रहता है और सभी अस्तित्वों के साथ अभाव भी रहता है। इससे सार्त्र इस निष्कर्ष पर आता है कि चेतना और उसके विषय के बीच एक अन्तर रहता है। चेतना में अनिवार्य रूप से रिक्तता होती है। इसकी पूर्ति की आवश्यकता रहती है। सार्त्र कई प्रकार से इसका वर्णन करता है। वह अभाव एक अन्तर है—विचार और उसके विषय के बीच का अन्तर। चेतना प्रयोजनात्मक होती है, किन्तु उसमें और उसके विषय में अनिवार्यतः अन्तर होता है। इस अन्तर की पूर्ति में ही मनुष्य की स्वतंत्रता निहित है। मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी संभावनाओं में है। मनुष्य अपनी संभावनाएँ ही हैं—संभावनाएँ जो वह नहीं है। संभावनाओं की उपलब्धि से ही वह अभाव अथवा अन्तर की पूर्ति करता है। किन्तु एक अभाव की पूर्ति होते ही नई रिक्तता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि 'अभाव' रहित अस्तित्व केवल जड़ अस्तित्व का है। मनुष्य चेतन अस्तित्व है। उसमें अभाव और संभावनाएँ निरन्तर बनी रहती हैं। वह सदैव वह होने का प्रयत्न करता रहता है, जो वह नहीं है। इस प्रकार वह मूल्यों की सृष्टि करता रहता है। मूल्यों के सृजन में ही उसकी स्वतंत्रता और अस्तित्व है।

इन सिद्धान्तों के कारण सार्त्र ऐसा समाधान दे पाता है जिससे उसकी स्थिति कामू से श्रेष्ठतर हो जाती है। जहाँ तक एक्सिडिटी का प्रश्न है सार्त्र उसे उतना ही महत्त्व देता है जितना कामू। शायद ज्यादा ही। कामू के अनुसार एक्सर्ड वाह्य है जो मनुष्य पर आक्रमण कर उसे भ्रष्ट करता है। किन्तु सार्त्र के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व ही अनिश्चित और तथ्यात्मक (Contingent and facticity) है जिसमें कोई परिवर्तन संभव नहीं। मनुष्य 'अपने में' और 'अपने लिए' दोनों है। प्रथम रूप में वह निर्जीव वस्तुओं की भाँति अनिश्चित और तथ्यात्मक है। इस रूप में वह पूर्णतः परिवर्तन रहित और निष्क्रिय है। किन्तु मनुष्य 'अपने लिए' भी है। इस रूप में वह चेतन और संभावनाओं से परिपूर्ण है। उसका कोई पूर्व निर्धारित स्वत्व नहीं है। वह अपना स्वत्व स्वयं निर्मित करता है। अतः सार्त्र का 'अपने-लिए' पूर्णतः एक्सर्ड और अर्थहीन नहीं है। वह सदैव एक्सर्डिटी का अतिक्रमण करता रहता है। मनुष्य का अस्तित्व निस्सन्देह तथ्यात्मक है। मैं अनिवार्यतः दिक् काल और कुछ गुणों से युक्त हूँ। उनसे मुक्ति नहीं मिल सकती। किन्तु उनके रहते हुए भी मैं जो भी चाहूँ बन सकता हूँ। मैं न तो दूसरी परिस्थिति का वरण कर सकता हूँ, न संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता हूँ। किन्तु मेरा स्वत्व मेरे सिवा कोई नहीं निर्धारित करता। मैं अपनी संभावनाएँ स्वयं हूँ। इस स्थिति में एक्सर्डिटी भी अर्थपूर्ण हो जाती है, क्योंकि मेरी स्वतंत्रता तथ्यात्मकता के ही सन्दर्भ में संभव है।

अतः यद्यपि कामू और सार्त्र दोनों एक्सर्डिटी को मानते हैं, किन्तु सार्त्र जिस प्रकार अन्तर को कम करता है वह कामू में नहीं है। कामू के लिए मनुष्य और शत्रुतापूर्ण जगत् में अन्तर निरन्तर बना रहता है। सार्त्र भी इस अन्तर को मानता है, किन्तु सार्त्र का दार्शनिक विश्लेषण उसे कामू को नैराश्यपूर्ण स्थिति से बचा लेता है। कामू तथ्यों में मूल्यों का अभाव पाकर अनुभूतियों पर जीने की सलाह देता है, किन्तु सार्त्र मनुष्य और जगत् के अन्तर को निरन्तर

समाप्त करने की बात करता है। मनुष्य की प्रज्ञा सर्जनात्मक है। वह एक स्वतंत्र प्राणी है और नवीन संभावनाओं की सृष्टि करता है। सर्जन ही उसे अर्थवत्ता देता है। एब्सर्ड का अतिक्रमण ही उसकी वास्तविकता है, यद्यपि यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। अन्तर या अभाव सदैव मनुष्य के आगे है। मनुष्य अभाव है और इसी कारण वह है जो वह नहीं है। वह अपनी संभावना है और संभावनाओं के निर्माण में स्वतंत्र है।

जहाँ तक नैतिक नैतिकता का प्रश्न है कामू और सार्त्र एकमत हैं। दोनों ने नैतिक नैतिकता का विरोध किया है। इस बात पर उनका आस्तिक विचारकों से भी मतैक्य है। मार्सेल ने मनुष्य की उस प्रवृत्ति की आलोचना की है जिसके अनुसार वह सदैव अपने पद और उपाधियों के पहिनावे में ही अपने को व्यक्त करता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों मनुष्य को उसके कार्यों के समूह के रूप में ही देखते हैं। उनके सिद्धान्तों में मनुष्य की स्वतंत्रता और सर्जनशीलता उपेक्षित रह जाती है। यदि कोई मनुष्य किसी आफ्रिस में क्लर्क है तो वही उसका मुख्य रूप बन जाता है, अन्य क्रियाएँ जैसे—उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना, बात करना, मित्रता, शत्रुता, सारी बातें उसी के अनुरूप होती हैं। आधुनिक मनुष्य मनुष्य नहीं है। वह केवल कुछ कार्यों का समूह है। वह क्लर्क है, अध्यापक है, आफ्रिसर है, व्यापारी है, नेता है—इनसे अधिक कुछ नहीं। अवकाश प्राप्त करने पर भी ये बिल्ले उस पर लगे रहते हैं—वह रिटायर्ड क्लर्क, रिटायर्ड अध्यापक, रिटायर्ड आफ्रिसर ही रहता है। सार्त्र के अनुसार यह बुरी आस्था ही होगी। मनुष्य अपने उत्तरदायित्व से बचने के लिए गंभीरतापूर्वक उस चरित्र का अभिनय करता रहता है जो उसे समाज में मिलता है।

इस लम्बे विश्लेषण से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। हमें ईमानदारी से यह मान लेना चाहिए कि आधुनिक युग संक्रमण का समय है। अर्थ व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था में काफ़ी परिवर्तन आ चुका है। युद्ध की विभीषिका मनुष्य को त्रस्त किये हुए है। ऐसी स्थिति में मानव-मूल्यों में भी परिवर्तन हुए हैं। कम से कम परम्परागत मूल्यों के प्रति उदासीनता अग्रश्य आई है। जो लोग इसे मानते हुये भी पुरातन मूल्यों की दुहराई देते हैं उन्हें यथार्थता और मानव स्वरूप का आभास नहीं है। यह अच्छा ही हुआ कि विभिन्न परिवर्तनों के कारण परम्परागत मूल्यों के प्रति अश्रद्धा या उदासीनता उत्पन्न हुई। इससे मूल्यांकन का एक नया अवसर आया। यह समझना कितना बचकाना है कि पुराने मूल्यों के जाते ही मानवता और मानव-संस्कृति नष्ट हो जायेंगी। किन्तु संक्रमण को झुठलाना भी मूर्खता ही है। भय को झुठलाने के लिए दोनों तरीके असंगत और बुरी आस्था के परिणाम हैं। बुरी आस्थाएँ मूल्यांकन में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। ध्वंस की सार्थकता नवनिर्माण में है अवशेषों की पूजा में नहीं। यह सोचना कि ईश्वर स्वर्ग में है अतः जगत् में पूरी नैतिक व्यवस्था है, निस्संदेह भ्रामक है। इस भ्रम का पर्दाफाश करने के लिए ही नीत्शे को कहना पड़ा कि ईश्वर की मृत्यु हो गई है। इसीलिए सार्त्र ने कहा कि ईश्वर नहीं है। नीत्से और सार्त्र का चाहे जो अर्थ रहा हो किन्तु मैं यह कहना चाहता हूँ ईश्वर का सम्बन्ध मूल्यों से नहीं है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाना ठीक नहीं है कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। शायद इस प्रश्न का बौद्धिक उत्तर संभव नहीं है। परन्तु एक बात स्पष्ट है : यदि ईश्वर है भी तो वह मूल्यों का सर्जक नहीं है। मूल्यों का

स्रोत मनुष्य है, ईश्वर नहीं। मूल्यों के सतत सर्जन और पुनर्मूल्यांकन में ही मनुष्य को अर्थवत्ता और आप्तता है। मूल्यों का वस्तुगत और शाश्वत संस्थान नहीं है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सारे प्रश्न भ्रामक हैं जिनमें यह पूछा जाता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है या परम मूल्य क्या हैं, इन प्रश्नों से यह धारणा बन जाती है कि जीवन के उद्देश्य या परम मूल्य पूर्व निर्धारित हैं और हमें केवल उन्हें खोज निकालना है। इसी से यह विचार भी पतपता है कि मनुष्यों के कर्तव्य निश्चित हैं जिनका पालन उन्हें करना चाहिये। किन्तु मनुष्य की स्वतंत्रता नवीन मूल्यों की सृष्टि और परम्परागत मूल्यों के मूल्यांकन से है। वास्तविक मनुष्य बिना मूल्यांकन के कुछ भी स्वीकार नहीं करता। स्वीकृति और अस्वीकृति में भी उसकी स्वतंत्रता व्यक्त होती है।

व्यक्ति को मूल्यों का स्रोत मानते ही एक कठिनाई आ जाती है। पर ऐसी कठिनाई है जिसका सफल समाधान सरल नहीं। यह कठिनाई है व्यक्ति और समाज के समायोजन में। डर है व्यक्ति के समाज से पृथक् इकाई बन जाने की। ऐसी अवस्था में व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष अनिवार्य सा हो जाता है। यह संघर्ष किसी भी व्यक्तिवादी दर्शन में देखा जा सकता है—हाब्स से सार्त्र तक। सार्त्र सभी सार्वभौमिक नैतिकता को जिसमें मार्क्सवाद, उपयोगितावाद और कांट का नीतिशास्त्र भी सम्मिलित है, बुरी आस्था और गम्भीर प्रवृत्ति का द्योतक बताता है। १९४६ में लिखे, एक निबन्ध में सार्त्र ने इस समस्या को सुलभाने का प्रयत्न किया था। इस लेख में वह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी ही नहीं दूसरों की भी स्वतंत्रता चाहता है। बिना दूसरों की स्वतन्त्रता का वरण किये हुये अपनी स्वतन्त्रता का वरण असम्भव है। सार्त्र यहाँ पर कांट के उस सिद्धान्त से सहमत है जिसमें सभी मनुष्यों को अपना साध्य माना गया है। किन्तु सार्त्र यह नहीं बताता कि यह सब कैसे संभव है। यही नहीं बाद में सार्त्र ने इस निबन्ध पर खेद भी प्रकट किया। 'सत्ता और अभाव' (Being and Nothingness) में सार्त्र कांट की स्पष्ट आलोचना करता है। इस पुस्तक में सार्त्र ने यही माना है कि किसी भी सार्वभौमिक आदेश पर आचरण करना बुरी आस्था और गम्भीरता है। इससे निवृत्ति के लिए मनुष्य अपनी संभावनाओं का निर्णय स्वयं करता है। इस तरह सार्त्र का समाधान एक रोमैण्टिक सुभाव बन कर रह जाता है। किन्तु इसी पुस्तक की एक पादटिप्पणी में सार्त्र एक परिवर्तन की भी बात करता है। यह परिवर्तन मार्क्सवाद की ओर है। सार्त्र ने १९६० ई० में 'क्रिटीक आफ़ डाइलेक्टिकल रीजन' का प्रथम भाग प्रकाशित किया। पर इस पुस्तक में दूसरा अतिवाद है। यहाँ पर सार्त्र के अस्तित्ववाद की मृत्यु स्पष्ट है। इसमें संगठित समाज प्रधान हो जाता है और इस प्रकार हावी हो जाता है कि व्यक्ति उसकी आँतों में खो जाता है। जहाँ तक व्यक्तिवाद मनुष्य को ऐसी आणविक स्थिति में ला देता है जिसमें वह सबसे पृथक् है, त्याज्य है। किन्तु मनुष्य किसी समूह का सदस्य भी नहीं है। वह 'व्यक्ति' भी है जो जैविक एवं आर्थिक सिद्धान्तों द्वारा पूरी तरह समझाया नहीं जा सकता। मनुष्य का आणवीकरण एवं समूहीकरण दोनों उसके व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं करते। ऐसी स्थिति में व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों में तथा वैयक्तिक एवं सामान्य नैतिक आदेशों के सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करना किसी भी आधुनिक विचारक के लिए दुहरी चुनौतियाँ हैं।

इस स्थिति में प्रत्येक लेखक का दायित्व हो जाता है अपने समय को समझना । हमारा समय विशेष रूप से संकट का समय है । अभाव, युद्ध और भय हमारे ऊपर हावी हो गये हैं । अतः हमारा कर्तव्य हो जाता है इस संकट के प्रति सचेत रहना । संकट और संक्रमण को स्वीकारना ही होगा । न तो हम आँख मूँद कर इसे ढाल सकते हैं, न तथाकथित शाश्वत मूल्यों की शरण लेकर बच सकते हैं । नैतिक नैतिकता तो इन दोनों से भी खराब है । भीड़ का अनुकरण मनुष्य को अचेतना के स्तर पर ला पटकता है । यह उसकी आप्तता और वैयक्तिकता का हनन है । हम ऐसे साहित्य की आशा करते हैं जो साम्प्रतिक संकट और संक्रमण के प्रति सचेत हो और विद्रोह को जीवित रख सके ।

इतनी सी बात

बात बस इतनी सी है,
वे अधिक क्राबिल हैं,
या अधिक क्राबिल हम,
वे कैसे मान लें,
और कैसे हम,
इसलिए
बिना बात
बात लगती सी है,
बात बस इतनी सी है ।

त्रिभवन चतुर्वेदी

भारत में मजदूर संगठनों के समक्ष चुनौती

जगन्नाथस्वरूप माथुर

औद्योगीकरण ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अनेक समस्याएँ पैदा कर दी हैं। इनमें से एक समस्या है, मजदूर-मालिक सम्बन्ध। मजदूर संगठनों का जन्म विश्व के बढ़ते हुए औद्योगीकरण की वजह से हुआ। पिछले वर्षों में मजदूर संगठनों के उद्देश्यों तथा कार्यों में काफी परिवर्तन हुए हैं। उनका क्षेत्र व्यापक हो गया है और मजदूर संगठन विभिन्न देशों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यों प्रत्येक देश के मजदूर आंदोलन में कुछ मूलभूत बातें समान रूप से पायी जाती हैं तथापि आर्थिक व राज-नीतिक परिस्थितियों, सामाजिक परम्पराओं और ऐतिहासिक विकास के अनुसार प्रत्येक देश में मजदूर आंदोलन की अपनी कुछ विशेषताएँ भी रही हैं।

भारतीय मजदूर आंदोलन का अध्ययन हमारे लिए बहुत जरूरी है। आज हम योजना के युग में जी रहे हैं और कुछ सामाजिक सिद्धान्तों जिसे आम तौर पर समाजवादी समाज कहा जाता है, पर आधारित एक समाज व्यवस्था लाने के लिए आर्थिक विकास जन्म ले रहा है। योजना आयोग ने कहा है :

“इन मूल्यों या मूलभूत उद्देश्यों को अब समाजवादी समाज कहा जाने लगा है। जिसके माने यह है कि विकास की दिशा इस बात से निर्धारित नहीं की जायेगी कि निजी तौर पर कितना मुनाफ़ा हुआ बल्कि यह देखा जायेगा कि सामाजिक लाभ कितना हुआ और विकास के स्वरूप और सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों के ढाँचे की योजना इस प्रकार से बनायी जायेगी जिससे न सिर्फ़ कुल राष्ट्रीय आय तथा रोज़गार में वृद्धि हो, अपितु आमदनी तथा सम्पत्ति में समानता भी आये।...आर्थिक विकास का लाभ अधिक से अधिक समाज के उन वर्गों को मिले जिनको अब तक औरों की तुलना में कम लाभ मिलता रहा है और आमदनी, सम्पत्ति तथा आर्थिक शक्ति का जमाव उत्तरोत्तर कम होता जाय।” (द्वितीय योजना, पृष्ठ संख्या २२)।

“समाजवादी समाज में अधिक से अधिक बल उसके ठोस उद्देश्यों की प्राप्ति पर दिया जाता है, जीवन-स्तर में सुधार, सबके लिए रोज़गार के अवसर, उन वर्गों के बीच उद्योग धंधों की बढ़ोतरी, जो अब तक लाभ की स्थिति में नहीं थे, और समाज के समस्त वर्गों के बीच साभेदारी की भावना का उदय।” (द्वितीय योजना, पृष्ठ संख्या २४)।

“इस सम्बन्ध में यह माना गया कि योजना के लक्ष्यों की पूर्ति और आर्थिक प्रगति के लिए मजदूर प्रमुख साधन हैं। देश में ऐसा आर्थिक संगठन बनाने के लिए जो सामाजिक

न्याय दे सके, मजदूर का सहयोग बहुत ही महत्वपूर्ण होगा और इस विशिष्ट भूमिका के साथ उसकी कुछ जिम्मेदारियाँ भी जुड़ी हुई हैं तो कुछ अधिकार भी मिले हैं। इसलिए साफ-साफ यह कहा गया कि वस्त्र तथा आवास के सम्बन्ध में मजदूर की बुनियादी जरूरतों के लिए योजना में उचित व्यवस्था करनी होगी, ताकि वह अपनी भूमिका निभाने के लायक हो सके। उसे जिन परिस्थितियों में काम करना पड़े, वे ऐसी हों जिनमें उसकी तन्दुरुस्ती कायम रहे और काम से सम्बन्धित कठिनाइयों से रक्षा हो सके। इस तथ्य को मानना पड़ेगा कि एक अविकसित अर्थ व्यवस्था में उत्पादनशीलता के उच्च स्तर के बिना न तो समाज का निर्माण हो सकता है और न मजदूर का। इसके लिए खुद उसे बहुत बड़ा योगदान देना होगा। मजदूर समाज के जीवन स्तर को ऊँचा उठा सके इसके लिए यह जरूरी है कि उसकी उपस्थिति नियमित हो, व्यवहार अनुशासित हो और वह अपना कर्तव्य करने का पूरा खयाल रखता हो।” (प्रथम योजना, पृष्ठ संख्या ५७०-५७१)।

इसलिए यह देखना जरूरी है कि क्या मजदूर संगठन और अन्य श्रमजीवी संगठन इस प्रकार संगठित हैं जो इस चुनौती को स्वीकार करते ही और मजदूर यूनियनों के संगठन और तरीकों में क्या-क्या परिवर्तन अपेक्षित हैं! सरकार किस हद तक मजदूरों का मार्ग दर्शन कर सकती है? मालिक की क्या भूमिका है। और मजदूर संगठनों के स्वस्थ विकास के लिए उसके रुख में किस प्रकार के परिवर्तन की जरूरत है?

मजदूर आंदोलन का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब कल-कारखानों का विकास हुआ, उसी समय मजदूरों की कठिनाइयाँ संगठित रूप से पेश की गईं। श्री लोखंडे ने बम्बई मिल हैड्स एसोसियेशन की स्थापना की और सरकार के सामने उनकी समस्याएँ रखीं तथा ‘दीनबन्धु’ नाम की एक पत्रिका निकालना शुरू किया। कुछ और संगठन भी बने। किन्तु ये संगठन, जो अधिकतर पढ़े लिखे तबके तक ही सीमित रह जाते थे, अपनी दिक्कतों को दूर कराने के लिए सिर्फ़ संवैधानिक तरीकों का ही इस्तेमाल करते थे और मुश्किल से हड़ताल आदि का सहारा लेते थे। वे बुनियादी तौर पर सामाजिक कल्याण के संगठन थे, जो मजदूरों के काम की भयंकर स्थितियों के सम्बन्ध में मालिकों से दया की याचना करते थे या सरकार के सामने इस सम्बन्ध में याचिकाएँ प्रस्तुत करते थे।

असल में मजदूर आंदोलन प्रथम विश्व युद्ध के बाद सन् १९१८ से शुरू हुआ, जब श्री वाडिया ने मद्रास लेबर यूनियन की स्थापना की। इस मजदूर संगठन की स्थापना का तात्कालिक कारण बिन्नी और कर्नाटक मिल्स के विदेशी मालिकों का मजदूरों के साथ बुरा व्यवहार था। बढ़ते हुए मूल्यों और गिरती हुई मजदूरी के कारण बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति, महात्मा गांधी के नेतृत्व में नये राजनीतिक नेतृत्व का उदय, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन की स्थापना, जिसका भारत संस्थापक-सदस्य था, और रूसी क्रांति, जिसने उपेक्षित वर्ग को आशा का संदेश दिया, आदि ऐसे कारण थे जिन्होंने मजदूरों के मजदूर संगठनों के रूप में संगठित होने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। इसी समय महात्मा गांधी की देख रेख में अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन की स्थापना हुई और इसी समय अहमदाबाद की मशहूर हड़ताल हुई। बाद में जब भारत स्वतंत्र हुआ, यही एसोसियेशन ‘इंटक’ (इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस)

की मुख्य धुरी बन गयी। भारत सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में मजदूरों के प्रतिनिधियों की नामजदगी के विरोध में १९२० में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। इस समय मजदूर संगठनों की क्या संख्या थी, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अनुमान हैं। ये यूनियनें बहुत कम दिनों चल पाईं। फिर भी मजदूर संगठन की भावना ज्जिन्दा रही।

सन् १९२४ के आते-आते मजदूर संगठनों पर साम्यवादी असर साफ़ परिलक्षित होने लगा। साम्यवादी असर के परिणामस्वरूप न सिर्फ़ हड़तालों की संख्या बढ़ी, बल्कि हिंसा, दबाव और हड़ताल में भाग न लेने वालों को डराना-धमकाना तथा कठोर भाषा का प्रयोग आदि रूप भी देखने में आये। कुछ ग्राम हड़तालें भी हुईं। आर्थिक परीशानियों, कमजोर नेतृत्व और उग्रवादी दबाव के सामने मालिकों ने घुटने टेक दिये, जिसके कारण साम्यवादियों की अहमियत बढ़ी। भारत सरकार ने कम्युनिस्ट नेताओं के विरुद्ध मुकदमे चलाये किन्तु वह उग्रवादी नेताओं की लोकप्रियता को रोक नहीं सकी। मजदूर आंदोलन में दरार पड़ी और एक अवसर ऐसा आया, जब अखिल भारतीय स्तर के तीन मजदूर संघ (फेडरेशन) हो गये। मजदूर आंदोलन में इस दरार का कुल मिला कर असर यह हुआ कि आंदोलन की लहर शांत पड़ गई और ऐसी अनियोजित और जल्दबाजी पूर्ण हड़तालें हुईं, जिनको नाकामयाबी का मुँह देखना पड़ा।

व्यापार और वाणिज्य के विकास, सन् १९३५ के क़ानून के पास होने से हुए राजनीतिक परिवर्तनों, कांग्रेस मंत्रिमंडल के चुनावों, धारा सभाओं में मजदूरों के लिए सीटों की व्यवस्था और ट्रेड यूनियन एकता कमेटियों के जरिये काम करने वाले मजदूर कार्यकर्ताओं-नेताओं द्वारा लाई गई एकता से मजदूर तहरीक में सक्रियता की एक लहर आई। श्री बटलर की भारत यात्रा और श्रम सम्बंधी शाही आयोग (रायल कमीशन) की रिपोर्ट भी इसमें मददगार साबित हुई। मजदूर संगठनों में फिर जान आई और अनेक मजदूर संगठनों की स्थापना हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध से भारत की अर्थ व्यवस्था में बड़े भारी परिवर्तन हुए। जापान द्वारा युद्ध की घोषणा कर दिये जाने से भारत लड़ाई का सामान सप्लाई करने का मुख्य केन्द्र हो गया। कमोबेश रूप में आयात स्थगित कर दिये। औद्योगिक उत्पादन और मुनाफ़ा बढ़ा और क़ीमते भी। किन्तु मजदूरी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह मूल्यों में वृद्धि की तुलना में पिछड़ गई। सरकार की नीति में भी भारी परिवर्तन हुए और सरकार ने संगठित मजदूरों का सहयोग पाना चाहा। सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के ढंग का भारतीय श्रम सम्मेलन क़ायम किया और उच्च स्तर पर मजदूरों के प्रतिनिधियों से परामर्श लेना शुरू किया। युद्ध प्रयासों में सरकार को मदद दी जाय या नहीं, इस मसले को लेकर मजदूर आंदोलन में फिर दो विचार धाराएँ पैदा हो गईं और एक वर्ष पूर्व जो संयुक्त मोर्चा बना था वह बालू की दीवार की तरह ढह गया। सरकार के सहयोग से एक नया श्रम संगठन—इंडियन फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर—बना, जिसे सरकार ने १३ हजार रु० मासिक सहायता देना शुरू किया। मालिक भी मजदूर संगठनों को खुश रखने में अपनी भलाई समझते थे। इसी समय राष्ट्रीय सेवा (तकनीकी कर्मचारी) अध्यादेश और अनिवार्य सेवा (रखरखाव) अध्यादेश लागू हुआ, जिससे

मालिकों के बहुत से पुराने अधिकार छिन गये। युद्ध से मिले संरक्षण के कारण उद्योग-धंधे खूब फले-फूले जिससे लोगों को बहुत रोजगार मिला। मजदूरों की संख्या बेशुमार बढ़ी और मजदूर संगठनों की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई। उनके कोष दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ने लगे। भारत रक्षा कानून बना कर सरकार ने औद्योगिक भगड़ों को पंच फंसले के लिए सौंपने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। मजदूरों के हड़ताल करने का अधिकार कम कर दिया गया कांग्रेस के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के कारण गैर-कम्युनिस्ट नेताओं को जेलों में ठूस दिया गया। सन् १९४२ को छोड़ कर जिसमें महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी के खिलाफ हड़ताल हुई, शेष अवधि में औद्योगिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत अच्छे रहे। इसका एक कारण तो सरकार की नीति में परिवर्तन था और दूसरा कम्युनिस्टों द्वारा सरकार की नीतियों का समर्थन।

युद्ध के बाद मजदूर मोर्चे पर बहुत गतिविधियाँ बढ़ीं। इतनी सक्रियता पहले कभी नहीं देखी गई थी। देश का राजनीतिक माहौल भी बदलता जा रहा था और देश के ब्रिटिश दासता से मुक्त होने की आशा भी दिन पर दिन बढ़ रही थी। देश को आज़ादी तो मिली, पर भारत व पाकिस्तान के रूप में देश के विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों के बाद, जिसकी वजह से दोनों देशों में भारी संख्या में शरणार्थी आये, देश में गंभीर सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ पैदा हुईं।

इस समय मजदूर संगठनों की गतिविधियाँ ज़ोरों पर थीं। अनेक मजदूर संगठनों का जन्म हुआ। भावों में लगातार वृद्धि और वास्तविक मजदूरी में निरंतर गिरावट की वजह से मजदूर संगठनों को बल मिला। राष्ट्रीय सरकार बन जाने से सताये जाने का भय कम हो गया। मजदूर मोर्चे पर अपना कब्जा जमाने की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों की इच्छा के कारण मजदूरों को आसानी से सस्ते नेता मिल गये। प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक दल ने अपना मजदूर संगठन खोल लिया। नतीजा यह हुआ कि मजदूर विभिन्न राजनीतिक दलों में बंट गये। इस अवधि में सबसे अधिक हड़तालें हुईं। इसकी वजह से उत्पादन गिरा। हड़ताल के नये तरीक़े काम में लाये जाने लगे, जैसे 'धीरे-धीरे काम करना' और 'कलमबंद' हड़ताल। भारत सरकार ने दिसम्बर, १९४७ में एक औद्योगिक शांति सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में तय किया गया कि औद्योगिक भगड़ों को शांतिपूर्वक तथा मैत्रीपूर्ण ढंग से निपटाने के लिए कानूनी तरीक़ों का अधिक से अधिक सहारा लिया जायेगा। मजदूरों को अधिक वेतन दिये जाने का वचन दिया गया। मजदूरों के लिए आवास योजना को सबसे पहला स्थान दिया गया। औद्योगिक अधिनियम, १९४७ से सरकार को विवादास्पद मामले पंच फंसले को सौंपने का अधिकार मिल गया। इस अधिनियम में 'प्रबन्ध समितियाँ' बनाये जाने की भी व्यवस्था थी, जिसके अनुसार ऐसे कारखानों में जहाँ १०० या १०० से अधिक मजदूर काम करते हों, प्रबन्ध कार्य में मजदूरों की सलाह लेने के लिए मालिकों व मजदूरों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली प्रबन्ध समितियाँ गठित किये जाने की व्यवस्था की गई। संयुक्त परामर्श की योजनाओं को बढ़ावा मिला। समस्त विवादग्रस्त मामलों को अनिवार्य रूप से पंच निर्णय में सौंपने की दिशा में सरकार को खास सफलता नहीं मिली।

तीव्र आर्थिक विकास करने तथा समाज के निम्न वर्ग के लोगों की दिक्कतें दूर कर उन्हें नियोजित आर्थिक विकास के युग का साक्षात्कार कराने के लिए एक जेहाद छेड़ा गया, जिसकी अगुआ सरकार थी। यह माना गया कि गरीबी दूर करने का एक मात्र साधन है देश का तीव्र औद्योगीकरण, आर्थिक सत्ता को कुछ हाथों में केन्द्रित होने से बचाने के लिए, जिसकी वजह से समाज का कुछ हिस्सा विकास के सुफल से वंचित रह जाता है। अतः अगली पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र की ओर अधिक महत्वपूर्ण भूमिका दी गई।

आशा की गई थी कि तीसरी पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक सार्वजनिक क्षेत्र को उद्योगधंधों का २५ प्रतिशत और खानों का १० प्रतिशत हिस्सा मिल जायेगा। बुनियादी तथा प्रमुख उद्योग धंधे सरकार के हाथ में रहेंगे। योजना आयोग ने कहा : “इसलिए मुख्य समस्या सिर्फ मौजूदा आर्थिक सामाजिक साधनों की दिशा बदलने की ही नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को ही बदलने की आवश्यकता है, जिससे वह उन बुनियादी माँगों को पूरा करने की स्थिति में आ जाय जिनमें काम करने का अधिकार, पर्याप्त आमदनी का अधिकार तथा शिक्षा पाने का अधिकार और कुछ हद तक वृद्धावस्था, बीमारी तथा ऐसी ही अन्य अवस्थाओं के खिलाफ बीमा आदि शामिल हैं।”

मजदूर संगठनों की गतिविधियाँ जोरों से बढ़ रही हैं और मजदूर संगठनों तथा उनके सदस्यों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। मजदूर संगठनों की संख्या ढाई गुनी हो गई है, किन्तु उनकी सदस्य-संख्या में उसी अनुपात से वृद्धि नहीं हुई है ?

इससे सिद्ध होता है कि इस दौरान छोटे-छोटे मजदूर संगठन बने हैं। मजदूर आंदोलन में मतभेद चलते रहे और राष्ट्रीय संघों की संख्या छः हो गई। ये ६ संघ हैं— अखिल भारतीय मजदूर संगठन (ए० आई० टी० यू० सी०), भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संगठन (आई० एन० टो० यू० सी०) हिन्द मजदूर सभा, यूनाइटेड मजदूर संगठन (यू० टो० यू० सी०) और हिन्द मजदूर पंचायत।

योजना भी न तो मजदूरों की स्थिति में सुधार ला सकी और न ही माली हालत में ! असुरक्षा की भावना दिन पर दिन गहरी हो जाती जा रही है। बेरोजगारी आज भी सिर दर्द बनी हुई है। योजनाओं के साथ-साथ रोजगारी तथा बेरोजगारी का अनुपात भी बढ़ता ही जा रहा है। इसके साथ ही साथ अभिनवीकरण (काम बाढ़) का भय लगा हुआ है और उसकी वजह से छटनी तथा नौकरी से हाथ धोने का डर। मजदूरों की समस्या विकट बनी हुई है। जीवन निर्वाह मजदूरों का आदर्श ‘आदर्श’ ही बना हुआ है। मजदूर नेताओं का कहना है कि वास्तविक मजदूरों छट गई है। औद्योगिक सुरक्षा तथा स्वास्थ्य की स्थितियाँ बदतर हो गई हैं। कारखानों के मजदूरों के लिए मकानों की व्यवस्था में भी कोई खास सुधार नहीं हुआ है, कुछ केन्द्रों में तो हालत सुधरने के बजाय बिगड़ भी गई है। सामाजिक सुरक्षा दूर तक कहीं देखने में नहीं आती है। औद्योगिक उत्पादन तथा मुनाफ़ा बढ़ता चला जा रहा है। अर्द्ध विकसित अर्थ व्यवस्था में सिर्फ उद्योगपतियों को ही लाभ होता है।

औद्योगिक सम्बन्ध कटु बने हुए हैं। केन्द्रीय कर्मचारियों ने सरकार की श्रम नीति और बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के खिलाफ हाल ही में असफल हो सही पर एक हड़ताल की थी।

तत्कालीन श्रम मंत्री गुलजारी लाल नंदा ने औद्योगिक शांति कायम करने के लिए कुछ संहिताएँ बनायीं थीं, जो मालिकों तथा मजदूरों द्वारा स्वीकार की गयीं थीं और बाद में राष्ट्रीय संगठनों द्वारा स्वेच्छा से लागू की गयीं थीं। इस प्रकार नंदा देश की श्रम नीति के मुख्य सूत्रधार थे। प्रशासन संहिता, अन्तर मजदूर संगठन समन्वय संहिता, कुशलता तथा कल्याण संहिता का प्रारूप और शिकायतें हल करने का आदर्श तरीका—प्रादि संहिताएँ मजदूरों तथा मालिकों के मत भेदों को शांतिपूर्ण तरीके से निपटाने और मजदूरों के साथ अच्छा बर्ताव किये जाने के उद्देश्य से बनायीं गयीं थी। इसके साथ ही, मजदूरों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रबन्ध कार्य में मजदूरों द्वारा हिस्सा लिये जाने की एक योजना कुछ कारखानों में परीक्षण के तौर पर लागू की गयी। मजदूर नेताओं को प्रशिक्षित करने तथा उन्हें जिम्मेदार नेता बनाने की गरज से इसी अवधि में मजदूरों की शिक्षा सम्बन्धी एक योजना भी बनायी गयी।

इन संहिताओं तथा योजनाओं की सफलता के बारे में लोगों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। सरकारी प्रवक्ताओं का दावा है कि उनको अपने प्रयत्नों में सफलता मिली है, जब कि मजदूर नेताओं के विचार उनसे भिन्न हैं।

चीनी हमले ने एक धक्के का काम किया और पूरा देश उस चुनौती का मुकाबला करने के लिए एक हो कर उठा। मजदूरों ने अपनी हड़तालें स्थागित कर दीं, जो हड़तालें चालू थीं, उनमें समझौता हो गया और मजदूरों ने कारखानों में अतिरिक्त मेहनत की तथा देश के लिए रक्तदान व आर्थिक सहयोग दिया। नवम्बर, १९६२ में श्रम मंत्री ने एक श्रम सम्मेलन बुलाया जिसमें एक व्यापक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसे औद्योगिक शांति प्रस्ताव कहते हैं। इस प्रस्ताव में औद्योगिक शांति, उत्पादन वृद्धि, मूल्यों की स्थिरता और बचत के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त निहित हैं। सीमा पर युद्ध रुक जाने से एक प्रकार की शिथिलता आई और औद्योगिक शांति प्रस्ताव की चमक फीकी पड़ गई। भाव बढ़ने लगे और श्रम मंत्री की धमकी भी कारगर साबित नहीं हुयी। वास्तविक मजदूरी का स्तर गिरने लगा। ऐसा महसूस किया जाने लगा कि मालिक संकटकाल का नाजायज फायदा उठा रहे हैं और मुनाफ़े से अपनी तिजोरियाँ भर रहे हैं। महालनबीस समिति की रिपोर्ट ने इस धारणा को और पुष्ट किया। भारतीय राष्ट्रीय मजदूर संगठन को छोड़ कर शेष सभी मजदूर संगठनों ने इस स्थिति के खिलाफ अपने विचार व्यक्त किये।

फिर से हड़तालें होने लगीं और औद्योगिक भगड़े शुरू होने लगे। हिन्दू मजदूर पंचायत ने 'इंटक' के अलावा अन्य मजदूर संगठनों के सहयोग से 'बम्बई बंद' हड़ताल का शंख फूँका, जिसने बम्बई नगर का सामान्य कारोबार ठप कर दिया।

मौजूदा स्थिति के विरुद्ध और भी अनेक हड़तालें हुयीं। 'जिन्दा रहने का अधिकार' दिवस मनाया गया, जो मजदूरों की निराशा और कठिनाइयों का प्रतीक था। यहाँ तक कि सार्वजनिक क्षेत्र में भी, जहाँ कि आदर्श स्थिति होने की आशा की जाती है, हालत बिगड़ गयी। सरकार ने इसे अमन व चैन की स्थिति की तरह निपटाना चाहा और हड़तालियों तथा उनके नेताओं की बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ कीं। बाद में सरकार ने बढ़ी हुई महँगी के असर को खत्म करने और जीवन-निर्वाह व्यय को पूरा करने के लिए महँगाई भत्ते में वृद्धि को घोषणा की है।

मजदूर संगठनवाद आज हमारे आर्थिक-सामाजिक जीवन का अविभाज्य अंग बन गया है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है, फिर भी मजदूर आवादी के मुख्य आधार को प्रभावित नहीं कर सका है। सन् १९५१ की जन गणना के अनुसार श्रमजीवी वर्ग के सिर्फ ३ प्रतिशत लोग मजदूर संगठनों के सदस्य थे। बाद के १० वर्षों में भी मुश्किल से कुछ प्रगति हुई होगी। यदि देहाती क्षेत्रों के मजदूरों तथा मजूरी करने वालों को इसमें शामिल कर लें तो शायद इस प्रतिशत में वृद्धि हो सकती है। मजदूर संगठनों के सदस्यता सम्बन्धी आँकड़े भी प्रायः एकदम सही नहीं होते। वे अपनी सदस्य संख्या बढ़ा चढ़ा कर बताते हैं। विभिन्न राष्ट्रीय मजदूर संघों की सदस्यता की पुष्टि करने के सम्बन्ध में भारत सरकार ने जाँच की तो उनकी सदस्य संख्या में काफी अंतर पाया गया। औद्योगिक इकाइयों और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की सदस्य संख्या में भी भारी अंतर रहता है। जिन स्थानों पर शिक्षित मजदूरों की संख्या ज्यादा है, वहाँ मजदूर संगठन मजबूत हैं और उनकी सदस्य संख्या भी बहुत अधिक है। महिला सदस्यों की संख्या अनुपात में बहुत ही कम है।

मजदूर संगठनों के मंद विकास का कारण जाति, धर्म, मजदूरों की वापस गाँवों की ओर जाने की प्रवृत्ति, शिक्षा का अभाव और गरीबी है। सही नेतृत्व का अभाव बाहरी नेताओं का प्रभुत्व और राजनीतिक दलों का नियंत्रण आदि चीजें भी उसमें बाधक हैं। मालिकों का रुख भी सहानुभूति पूर्ण नहीं रहता और वे मजदूर संगठनों को बर्दाश्त नहीं करना चाहते। वे मजदूर संगठनों को मान्यता भी नहीं देना चाहते। ये सब मजदूर संगठनों के विकास में रोड़े साबित हुए हैं।

भारत में मजदूर संगठन उद्योग धंधों के आधार पर बने हुए हैं : व्यवसाय या पेशे के आधार पर नहीं। कुशल मजदूरों का अभाव, बाहरी नेता, जिनकी मजदूरों में दिलचस्पी एक वर्ग के रूप में है, मजदूरों का गाँवों से सम्बन्ध आदि कारणों ने पेशे और व्यवसाय के आधार पर मजदूर संगठनों के निर्माण में बाधा पहुँचाई है। काम करने की जगह आधार भूत इकाई है। इस प्रकार की यूनियन या तो स्वतंत्र रहती हैं या किसी मजदूर संघ से सम्बद्ध हो जाती हैं। अधिकांश यूनियन आकार में बहुत छोटी हैं और उनकी औसत सदस्य संख्या ६०० से कम है। यूनियनों का आकार में छोटी होने का कारण मजदूर संगठनों की अधिकता है। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का अपना एक मजदूर संघटन है और प्रत्येक पार्टी मजदूरों में अपना असर रखना चाहती है। राजनीतिक मतभेदों के आधार पर मजदूर आंदोलन में फूट कोई नयी चीज नहीं है। किन्तु आज़ादी के बाद वह अधिक बढ़ गयी है।

इन सब चीजों ने मजदूरों का एक ऐसा संघ बनने में बाधा पहुँचायी है, जो पूरे मजदूर आंदोलन की तरफ से कुछ कह सके। मजदूर आंदोलन न तो मजदूरों के हितों की रक्षा करने में प्रभावशाली रहा है और न ही देश की अर्थ व्यवस्था का रूप निर्धारित करने में। मजदूर संगठनों का प्रत्येक भाग आंदोलन की फूट को मानता है और एकता लाने की दिशा में संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए गंभीर प्रयास करने का दावा करता है। अनेक संघर्ष तथा हड़तालें संयुक्त मोर्चे के रूप में आयोजित की गईं, किन्तु ये संयुक्त प्रयास न सिर्फ अस्थायी रहे, अपितु इन्होंने मतभेदों को और अधिक बढ़ाया और इसके परिणाम-स्वरूप अनेक

विरोधी संगठन बने। संयुक्त मजदूर आंदोलन के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा रही है, विभिन्न प्रकार की राजनीतिक विचार-धाराएँ और मजदूर संगठनों पर राजनीतिक दलों का नियंत्रण।

देश की एक खास किस्म की स्थिति के कारण यहाँ का मजदूर संगठन राजनीतिक आंदोलन से जुड़ गया है। मजदूरों के कुछ अविस्मरणीय आंदोलनों के साथ राजनीतिक नेताओं का नाम जुड़ा हुआ है। आजादी के पूर्व इस प्रकार के सम्बन्ध ने न सिर्फ योग्य नेता दिये, बल्कि मजदूर आंदोलन को इज्जत तथा सम्मान का दर्जा भी दिया। इसीके फलस्वरूप स्वतंत्र भारत के संविधान में मेहनतकश वर्ग को कुछ अधिकार मिले। साथ ही यह भी सत्य है कि राजनीतिक गतिविधियों को अनावश्यक महत्त्व देने की वजह से मजदूर संगठनों में दराँ पड़ों, यह उनकी एकता के मार्ग में बाधा सिद्ध हुई है। संयुक्त मजदूर आंदोलन तैयार करने के अब तक के सारे प्रयास असफल रहे हैं।

भारतीय मजदूर संगठनों ने श्रम कल्याण तथा लाभ की गतिविधियों में भाग नहीं लिया। साधनों की विपन्नता और धनाभाव और पूरे समय मजदूर संगठनों का काम करने वाले नेताओं की कमी से इस प्रकार के कार्यों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया। ये नेता जो समाजवादी समाज और कल्याणकारी राज्य की बातें करते थे, सरकार से ही यह आशा करते रहे कि वह श्रम कल्याण कार्य करेगी और मजदूरों के हितों की रक्षा करेगी। श्रम हितकारी कार्यों की कमी के कारण ही औसत मजदूर श्रम संगठनों से विमुख-सा रहता है। श्रम हितकारी कार्यों से मजदूर संगठन मजबूत होंगे और सदस्य संगठन के कार्यों में दिलचस्पी लेंगे। इससे मजदूर नेता और अधिक जिम्मेदारी महसूस करने लगेंगे।

मजदूर संगठन सामूहिक सौदेबाजी तथा सामूहिक कार्यों का प्रभावशाली ढंग से फायदा उठाने में भी असमर्थ रहे हैं। पश्चिमी देशों में सामूहिक सौदेबाजी से प्रायः सामूहिक समझौते हो जाते हैं। इन समझौतों के आधार पर व्यक्तिगत तथा सामूहिक शिकायतों को मैत्रीपूर्ण तथा शांतिपूर्ण ढंग से निपटाया जाता है। हड़तालें कम होती हैं और सिर्फ तभी होती हैं जब अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता। भारत में सामूहिक क्रदम अनियोजित ढंग से रहे हैं। हमारे मजदूर संगठनों के सामने हड़ताल पहला क्रदम है। अधिकांश हड़तालें जल्दबाजी में घोषित की जाती हैं।

जिन मद्दों को लेकर हड़तालें की जाती हैं, वे प्रायः स्पष्ट नहीं होती और उनके लिए सदस्यों की इच्छा भी बहुत कम बार जानी जाती है। नेता लोग जन-समर्थन का अंदाज नहीं लगाते और इस प्रकार की अनियोजित तथा हड़बड़ी में घोषित हड़तालें प्रायः वापस ले ली जाती हैं। ऐसी हड़तालें मजदूर आंदोलन को नुकसान ही पहुँचाती हैं। मालिकों के सामने रखी माँगों में बहुत जल्द परिवर्तन कर दिये जाते हैं। कभी-कभी तो औद्योगिक संघर्ष के दौरान भी उनमें हेर-फेर कर दिये जाते हैं। बहुत कम बार माँगें वैज्ञानिक आँकड़ों या किसी प्रकार के अध्ययन पर आधारित होती हैं। कई बार हड़तालें मालिकों से रियायत पाने की गरज से नहीं की जाती बल्कि विरोधी मजदूर संगठन को परेशान करने के लिए की जाती है। मजदूर संगठनों की विविधता कमजोर तथा गैर-जिम्मेदार नेतृत्व, मालिकों का 'शत्रुत्व' रख और

मजदूर संगठनों पर राजनीतिक दलों को प्रभाव सही ढंग को सामूहिक सौदेबाजी को रोकता है।

संयुक्त परामर्श और परस्पर विचार विमर्श को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सरकार ने औद्योगिक अधिनियम में प्रबन्ध समितियों और समझौता वार्ता सम्बन्धी अन्य समितियों की व्यवस्था की है। भारतीय श्रम सम्मेलन में शिकायतें सुनने के लिए एक प्रभावशाली व्यवस्था क्रायम करने का सुझाव दिया गया था। दूसरे देशों में जो चीज स्वाभाविक ढंग से अपने आप हो जाती है, उसके लिए भारत में कानूनी दबाव डालना पड़ता है। प्रबन्ध समितियों के कामों में भी काफी सुधार की जरूरत है।

जहाँ पर मजदूर संगठन कमजोर होते हैं, वहाँ सामूहिक सौदेबाजी के मामले में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है; जो मामले को पंच फ्रैसले के लिए सौंप देती है या काम के घंटे नियत करने, मजदूरी तय करने और श्रम कल्याण की योजनाएँ लागू करने के लिए श्रम सम्बन्धी कानून बनाती है।

नये श्रम कानूनों का निर्माण, कानूनी व्यवस्थाओं का अधिक विस्तृत और नये क्षेत्रों में लागू किया जाना और मजदूर हितों के न्यूनतम स्तर को उठाने के लिए पुराने कानूनों को बदलना स्वातंत्र्योत्तर भारत की प्रमुख विशेषताएँ हैं। श्रम समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर प्रगतिशील कानूनों का निर्माण श्रमिकों के लिए बरदान सिद्ध नहीं हुआ है। उनसे नये स्वार्थ पैदा हुए लगते हैं। मजदूरों में मुकुदमे बाजी की प्रवृत्ति घर करने लगी है। वे अपनी छोटी-छोटी शिकायतों के लिए भी अदालतों का न्यायाधिकरणों के दरवाजे खटखटाते हैं।

सुदृढ़ और मजबूत मजदूर संगठनों की आवश्यकता को महसूस नहीं किया जा रहा है। यूनियन आफ्रिस एक तरह से वकील की फर्म बन गये हैं। छोटे-छोटे मजदूर संगठनों के खोले जाने को प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे मजदूर संगठन अनुशासन लागू करने और ताकत के बल पर सौदेबाजी करने की स्थिति में नहीं होते। प्रत्येक कारखाने में अनिवार्य रूप से एक से अधिक यूनियन पाई जाती हैं। ऐसा अपवाद के रूप में नहीं होता, बल्कि अनिवार्य रूप से होता है।

मजदूर संगठनों का आर्थिक ढाँचा बहुत कमजोर है। मजदूर संगठनों की औसत वार्षिक आमदनी करीब २,५०० रु० है। इसका अर्थ हुआ ४ रु० प्रति सदस्य सालाना। यह रकम बहुत ही कम है। गरीबी और मजदूरी की नीची दर की वजह से सदस्यता शुल्क भी बहुत कम है। नियमित रूप से शुल्क की वसूली न होने के कारण सदस्यता शुल्क वसूले जाने से रह जाता है। सदस्यता शुल्क बढ़ाये जाने के सम्बन्ध में भी जाँच करने की आवश्यकता है। पूरे समय संगठन के लिए काम करने वाले वेतन भोगी कार्यकर्त्ता न सिर्फ संगठन के साधन बढ़ाने में मदद करेंगे, बल्कि अच्छी देख-रेख के साथ श्रम कल्याणकारी कार्य-कलापों के सम्पादन में भी सहायक सिद्ध होंगे। आर्थिक स्थिति अच्छी होने से यूनियन अपने सदस्यों के प्रति दायित्व को अच्छी तरह पूरा कर सकेगी। उनके पास अलग से हड़ताल कोष हो सकता है, जिससे हड़ताल के समय वह अपने सदस्यों की सहायता कर सके।

असली ताकत मजदूरों में से बने नेताओं से आती है। अब तक हालत यह रही है कि

मजदूर संगठनों पर बाहरी लोगों का प्रभुत्व रहा है, जो प्रायः राजनीतिज्ञ होते हैं। दूसरे देशों में बाहरी नेताओं ने शुरू में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया है, किन्तु लगातार उनके प्रभुत्व से मजदूरों में निराशा छा जाती है और वे असंतुष्ट होकर व्यक्तिगत दुश्मनी के आधार पर दूसरी यूनियन खोल लेते हैं। मजदूरों का अज्ञान, मालिकों की नाराजगी का भय और बाहरी नेताओं का प्रभुत्व आज की स्थिति के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार है। बाहरी नेताओं की भूमिका और स्थिति को लेकर विवाद चलता रहा है। कानून द्वारा उनकी संख्या कम करने की कोशिशें की गयी हैं, किन्तु ऐसे प्रयास सफल नहीं हुए हैं। जहाँ कहीं आंशिक रूप में सफलता मिली भी है, वहाँ मजदूर संगठनों का काम करने वाले व्यक्तियों की कमी आ खड़ी हुई है। शिक्षा के प्रसार, मजदूर संगठनों के दर्शन और कार्य विधियों में मजदूरों का प्रशिक्षण मालिकों की सहानुभूति और सहिष्णुता से ही मजदूरों में से नेता पैदा हो सकते हैं। मजदूरों के प्रशिक्षण का कार्य मजदूर संघों को करना चाहिए, न कि सरकार को, जैसा कि हमारे देश में परीक्षण के तौर पर किया जा रहा है।

सरकार मजदूर संगठनों के उचित विकास की दिशा में उपयोगी भूमिका निभा सकती है। आजादी से पूर्व सरकार की भूमिका मुख्यतः तटस्थता की थी। उसे मजदूर संगठनों से हमेशा कुछ-न-कुछ संदेह ही बना रहता था, क्योंकि इनका राष्ट्रीय आंदोलनों से निकट का सम्पर्क रहता था। ब्रिटेन के कानून के आधार पर तत्कालीन सरकार ने जो मजदूर संगठन अधिनियम बनाया भी तो भारत और ब्रिटेन में व्याप्त जन-भावना से बाध्य हो कर इस अधिनियम में केवल मजदूर संगठनों के स्वैच्छिक पंजीकरण [रजिस्ट्रेशन] और मजदूर संगठनों की कानूनी स्थिति के बारे में व्यवस्थाएँ निहित हैं। इसके अलावा उसमें और कुछ उल्लेखनीय नहीं था। सरकार का रुख उसी तरह असहानुभूतिपूर्ण और उदासीन रहा है।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इस स्थिति में परिवर्तन आया, जब सरकार को युद्ध प्रयासों के लिए संगठित मजदूरों के सहयोग की जरूरत महसूस हुई। तब सरकार ने मजदूरों और मालिकों के प्रतिनिधियों को विभिन्न सम्मेलनों और समितियों में समानता का दर्जा दिया। आजादी के बाद सरकार का ऐसा रुख खास तौर से देखने में आया, जब उच्च स्तर पर श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधियों का सहयोग माँगा गया और उनसे परामर्श किया गया। योजना कुछ खास आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों को लेकर बनायी गयी और तीव्र आर्थिक विकास में मजदूरों और उनके संगठनों की भूमिका को मान्यता दी गयी। यह महसूस किया गया कि उनके सहयोग के बिना आर्थिक विकास की गति मंद पड़ जायेगी। इस मान्यता का परिचय मिला, मजदूरों को निर्वाह योग्य मजदूरी के वादे, उचित कार्य स्थिति व काम की शर्तें, सामाजिक सुरक्षा के आश्वासन, अवसर की समानता पर आधारित सामाजिक आर्थिक संगठन के वादे, सामाजिक आर्थिक संगठन के वादे, सामाजिक व आर्थिक समानता और बढ़ी हुई उत्पादनशीलता का उपयोग समाज के निम्न वर्ग के लोगों के दुःख दर्द को कम करने के लिए किये जाने के आश्वासन के रूप में। मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिए स्वैच्छिक व कानूनी तौर पर द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय संयुक्त परामर्श की योजनाएँ बनायी गयीं। उद्योग धंधों के संचालन में मजदूरों द्वारा हिस्सा लिये जाने के लिये परीक्षण के तौर पर 'प्रबन्ध कार्य' में मजदूर योजनाएँ शुरू की क ख ग—११

गयीं। मजदूरों से भी यह कहा गया कि वे अपनी जिम्मेदारियाँ समझे और उत्पादन बढ़ा कर और हड़ताल से अपने को दूर रख कर समाज का हितवर्द्धन करें।

पारस्परिक सम्बन्धों के मूलभूत आधार के लिए मजदूरों के संगठन और सामूहिक सौदे के अधिकार को बिना किसी शर्त के मानना होगा। मजदूर संगठनों के प्रति सिर्फ उन्हें 'बर्दश्त' करने का भाव नहीं होना चाहिए, बल्कि मजदूर संगठनों की सहायता को जानी चाहिए, ताकि वे औद्योगिक व्यवस्था के एक अनिवार्य अंग के रूप में काम कर सकें। सामूहिक सौदे-बाज़ी और भगड़ों के पारस्परिक समझौते के मामले में सरकार ने उन्हें पंच क्रैसले के लिए सौंपने का अधिकार ले लिया।

“सामाजिक न्याय और जन कल्याण के उद्देश्यों की पूर्ति करने वाली अर्थ व्यवस्था, जो नियोजित उत्पादन और वितरण के लिए बनायी गयी हो, औद्योगिक शांति के वातावरण में ही सफलतापूर्वक काम कर सकती है और तब सरकार के लिए यह जरूरी हो जाता है कि जब अन्य किसी तरीके से समझौता संभव न हो तो वह भगड़ों को पंच निर्णय के लिए सौंपने का अधिकार अपने पास रखे।” (प्रथम योजना, पृष्ठ संख्या ५७३)।

यह महसूस किया गया कि देश की अर्थ व्यवस्था में ज्यों-ज्यों सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा बढ़ता है, आर्थिक प्रगति में उसकी भूमिका अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती जायेगी और सरकार देश की समग्र अर्थ व्यवस्था के आचरण को निर्धारित करने में एक सुदृढ़ स्थिति में आ जायेगी। आशा की जाती थी कि सरकार एक आदर्श मालिक के रूप में कार्य करेगी और भविष्य का मार्ग निर्धारित करेगी। इसका अर्थ यह था कि “जहाँ सरकार ही मालिक होगी, वहाँ मजदूर तथा मालिक का सम्बन्ध इस ढंग का होगा जो पारस्परिक सद्भाव और सहयोग का नमूना पेश कर सके।”

इसमें संदेह है कि आज सरकार की नीति इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल रही है। सार्वजनिक क्षेत्र पेशक़दमी करने में असफल रहा है और उसके सामने जो आदर्श थे, वे शनैः शनैः विलुप्त होते जा रहे हैं। यह स्वाभाविक भय बना हुआ है कि सरकार की नीति मजदूर आंदोलन की स्वतंत्र और निर्बाध गति को हतोत्साह करती है। सरकार पर यह आरोप है कि वह 'इंटक' के मजदूर संगठनों को संरक्षण प्रदान करती है। गैर-इंटक मजदूर संगठनों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार के कई उदाहरण सामने आये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार का रुख असहानुभूतिपूर्ण और हतोत्साह करने वाला रहा है। इस बात का बराबर खतरा बना हुआ है कि न्याय और समानता पर आधारित तथा मान्य अधिकारों व सुविधाओं से सम्बन्धित माँगों को भी राजनीतिक गतिविधियाँ करार दे दिया जाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक सम्बन्ध बहुत नाजुक हैं। सरकार एक ओर सामूहिक सौदेबाज़ी और भगड़ों के स्वैच्छिक निपटारे की बात कहती है किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में स्वयं इसे परीक्षण के तौर पर भी लागू करने को तैयार नहीं है। केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल और सरकार द्वारा उनकी शिकायतों पर उठाये गये क्रदम, दमन की कार्रवाइयाँ, व्यापक गिरफ़्तारियाँ, मजदूर संगठनों की मान्यताओं का छोना जाना, हड़ताल करने के अधिकार को

नियंत्रित करने की सरकार की इच्छा इस बात के प्रतीक हैं कि स्वयं सरकार भी आदर्श मालिक जैसा रख नहीं अपना रही है।

जनता की तरफ से आलोचना और मजदूर संगठनों के विरोध, जिनमें 'इंटक' भी शामिल है, के बाद सरकार ने बड़े अनमने भाव से अपने रख में थोड़ा परिवर्तन किया और 'ह्विटले कौंसिल' की स्थापना की घोषणा की। प्रशासकीय कमजोरियों के कारण उक्त योजना अभी तक महज कागजी महत्व की चीज बनी हुई है।

मजदूर संगठनों के सामने आज जो चुनौती है, वह बहुत साफ़ है। भारतीय मजदूर की गरीबी अकथनीय है। हाल के आर्थिक विकास से भी उसके दिन नहीं फिरे हैं। बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की कठोरता उसके जीवन में जरूर देखने में आती है। मजदूर वर्ग की उम्मीदों और इच्छाओं की रक्षा करने में सरकार की नीतियाँ असफल रही हैं। इसकी वजह से उसमें निराशा और कुंठा व्याप्त हो गयी है। मजदूर संगठनों को आज अपने सदस्यों के उचित हितों की रक्षा के लिए प्रभावशाली हथियार बनना है। साथ ही तीव्र आर्थिक विकास की आवश्यकता की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मजदूर संगठनों का यह भी दायित्व है कि आर्थिक प्रगति में शिथिलता आने दिये बिना वे मजदूर वर्ग के हितों व अधिकारों की रक्षा के लिए उचित नीति निर्धारित करें।

यदि मजदूर आंदोलन को सफल होना है और देश की अर्थ व्यवस्था को दिशा देने का काम करना है तो इसे राजनीतिक चिंतन, परिवर्तन, आर्थिक योजना, कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त और नयी औद्योगिक प्रक्रिया व तकनीक के अनुसार अपने को ढालना होगा। पश्चिमी देशों के विपरीत भारत में औद्योगिक क्षेत्र में बहुत तीव्र परिवर्तनों की संभावना है, क्योंकि हम पश्चिम के सर्वाधिक विकसित देशों से आधुनिकतम मशीनों, तकनीकी ज्ञान और तरीकों का आयात करते हैं।

ग्रामीण अर्थ व्यवस्था से औद्योगिक अर्थ व्यवस्था में आने में मजदूर को बहुत जोर तथा दिक्कत महसूस हुई है। वस्तु विनिमय के बदले मुद्रा द्वारा लेन देन और कृषि तथा शिल्प के मुक्त कार्य के बदले फ़ैक्टरी के अनुशासन के अन्तर्गत काम करने, औद्योगिक सर्वहारा बन जाने से हुई असुरक्षा और ग्रामीण जीवन की परम्पराओं के विलुप्त हो जाने के भय से उसे बहुत दिक्कतें महसूस हुईं।

यह सत्य है कि राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और राजनीतिक क्षेत्र में योग्य नेता देने में मजदूर संगठनों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, किन्तु आज तेज़ी से बदलती हुई समाज व्यवस्था में अपने संकीर्ण वर्ग हितों को नुकसान पहुँचाये बिना सामाजिक मूल्यों पर आधारित तीव्र आर्थिक विकास में वे क्या भूमिका निभा सकते हैं, यह उनके सामने बहुत बड़ी चुनौती है। इस चुनौती का सामना किया जा सकता है, और मजदूर संगठन अपने सदस्यों की स्थिति सुधारने में ही नहीं, किन्तु बेहतर समाज की रचना में भी महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। यह योगदान जिम्मेवार और अनुभवी नेताओं, साप्ताहिक सीदेबाजी के विधिवत् प्रयोग, स्वेच्छिक पंच निर्णय और समझौते के सख्ती से पालन और मूल जनतांत्रिक भावना की रक्षा करके किया जा सकता है।

वीएतनाम युद्ध और एशियाई सुरक्षा

सच्चिदानन्द सिन्हा

सैगोन नदी के तट के समीप वीएतनाम की जोन ऑफ आर्क, उल्लू बहनों, की याद में जिन्होंने ४३ ई० में चीनी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में आत्मोत्सर्ग किया था, दो मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं। २ नवम्बर १९६३ को जब न्गो दिन्ह जीयम के खिलाफ सफल विद्रोह हुआ तब इनमें से एक मूर्ति को उत्तेजित वीएतनामी जनता ने ध्वस्त कर दिया। कारण ? इसे जीयम ने स्थापित किया था और मूर्तिकार ने इसे जीयम के छोटे भाई की पत्नी मैडम न्हू की आकृति प्रदान कर दी थी। मैडम न्हू का नाम दक्षिण वीएतनाम में निरंकुशता और भ्रष्ट शासन का पर्यायवाची बन चुका था और जनता अपने शहीदों को इस बदनाम स्वरूप में अंगीकार करने को तैयार नहीं थी। यह घटना एक तरह से वीएतनामी जनता की साम्राज्यवाद विरोधी भावना का प्रतीक थी। वीएतनामी जनता के स्वाधीनता संग्राम की परम्परा हजारों साल पुरानी है। तीन-तीन बार उन्होंने शक्तिशाली मंगोलों को पराजित कर अपनी स्वाधीनता प्राप्त की थी। लेकिन आज के युग में स्वाधीनता की मूर्ति उनके लिए तभी आकर्षक हो सकती है जब यह उन्हें शोषण और दमन से मुक्त और विकासशील जीवन प्रदान कर सके। जीयम इस काम में पूर्णतया असफल रहा, और उसके बाद जिन लोगों के हाथ वीएतनाम की सत्ता आयी वे नाम के लिए भी जनता के प्रतिनिधि नहीं रहे हैं और कम्युनिस्ट शक्तियों के खिलाफ संघर्ष के लिए अमेरिका के हाथ के यन्त्र भर हैं। वीएतनाम में शांति स्थापित करने के प्रयत्नों की असफलता के कारण को समझने के लिए वीएतनाम के सम्बन्ध में यह आधारभूत बात ध्यान में रखना आवश्यक है।

वीएतनाम की जनता स्वतन्त्रता प्राप्त करने लिए किस हद तक कटिबद्ध है यह वीएतनाम युद्ध पर दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है। दक्षिण वीएतनाम की कुल आबादी १ करोड़ ४० लाख है। इस छोटे से देश के 'गृह-युद्ध' में अमरीका जैसे समृद्ध देश ने अपने आधुनिकतम हथियारों के साथ सवा दो लाख सैनिकों और सलाहकारों को भोंक दिया है। दुनियाँ के सब से बड़े जंगी जहाज, परमाणु शक्ति चालित विमानवाहक का इस युद्ध में उपयोग हो रहा है। नेपाम बमों (जो अपने इर्द-गिर्द काफ़ी दूर तक जलनशील तरल पदार्थों को फैला कर आग लगा देते हैं) तथा कथित जान न लेने वाले गैसों का प्रयोग भी बड़े पैमाने पर किया गया है। फिर भी कुछ शहरों को छोड़ कर अमरीका समर्थित दक्षिण वीएतनाम की सरकार का अस्तित्व कहीं नहीं है और स्वयं अमरीका के सैनिक तथा हवाई अड्डे वीएतनाम छापामारों के हमले से सुरक्षित नहीं रहने पाते। वीएतकांग (वीएतनामी कम्युनिस्ट) छापामारों के हमले से सुरक्षित नहीं रहने पाते।

मार के नाम पर हजारों की तादाद में निरीह जनता की हत्याएँ अमरीकी सैनिकों और दक्षिण वीएतनामी सरकार के सैनिकों के द्वारा हो रही है। अमरीकी बर्बरता नात्सी बर्बरता को भी इस छोटे से पिछड़े एशियाई देश में मात कर रही है। लेकिन प्रतिरोध के लिए ज्वार में अभी उतार का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता।

प्रश्न है, क्या 'वीएतकांग' या उत्तर वीएतनाम की वीएतमिन्ह सरकार वहाँ की जनता को यह स्वाधीनता प्रदान कर सकेगी? सम्भव है कि स्वाधीनता का जो आदर्श रूप हमारे दिमाग में है वह चीज उन्हें नहीं प्राप्त हो। लेकिन वीएतनामो जनता के बेमिसाल संघर्ष और आत्मबलिदान को देखने से यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में एक संतोषजनक भविष्य निश्चित सम्भावना बन गया है। अगर 'वीएतकांग' के आदर्शों से उन्हें संतोष है तो हमें उन्हें संतोष-जनक ही मानना होगा। आखिर सभी आदर्श सापेक्ष हैं और उनकी यथेष्टता की कसौटी उनसे सम्बद्ध जनता की मान्यता ही हो सकती है। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का यही एकमात्र आधार हो सकता है।

वीएतनाम की जनता के निश्चय को समझने के लिए हमें वीएतनाम के आधुनिक इतिहास और उसकी राजनीति में पाश्चात्य शक्तियों की नीति पर दृष्टि डालना होगा। आज से सौ साल पहले धर्म प्रचार करने वाले मिशनरी से फ्रांसीसी वीएतनाम में शासक बन गये। इनके शासन के यन्त्र थे—सुर्त (पुलिस खुफिया विभाग), फ्रांसीसी सैनिक और पुअलों कंदोर के टापू का कालापानी जो राजनीतिक बन्धियों के लिए सुरक्षित था। लेकिन लाख दमन के बाद भी फ्रांसीसी वीएतनामो जनता की स्वाधीनता की भावना को कुचल नहीं पाये। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश में और देश से बाहर अनेक गरोह देश की स्वतन्त्रता का प्रयत्न करते रहे। १९१० के आस-पास हो-चिह-मिन्ह के पिता और बड़े भाई, बहन सबके सब फ्रांसीसियों को निकाल बाहर करने के प्रयत्न में लगे हुए थे। हो-चिह-मिन्ह को कम्युनिज्म की दीक्षा भी राष्ट्रीयता के माध्यम से ही मिली। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जब वर्सेई की संधि-वार्ता चल रही थी उस समय हो-चिह-मिन्ह पेरिस में चित्रकारी से जीवन चला रहा था। उसी समय उसे घर से खबर मिली कि बहन को क्रान्तिकारी-कार्यों के लिए देश में ६ साल के कैद की सजा मिली है। ऐसी ही सजा भाई को भी मिली थी। इस तरह परिस्थिति के दबाव में हो-चिह-मिन्ह ने वर्सेई में उपस्थित प्रतिनिधियों में वीएतनाम की स्वतन्त्रता के लिए एक आठ सूत्री अर्जी बाँटी। इसी समय कार्ल मार्क्स के दामाद चार्ल्स लॉंगे का ध्यान इसकी तरफ आकृष्ट हुआ और इसके बाद से वह सोशलिस्ट पार्टी के सम्पर्क में आया। १९२० के बाद जब सोशलिस्ट पार्टी में दरार पड़ गयी और कम्युनिस्ट पार्टी का अलग से गठन हुआ तब हो-चिह-मिन्ह कम्युनिस्ट पार्टी में दाखिल हुआ। चूँकि यूरोप की राजनीति में सिर्फ कम्युनिस्ट ही उपनिवेशवाद के खिलाफ आन्दोलन करने वाले थे, यह स्वाभाविक था कि गुलाम मुल्कों के राष्ट्रीयतावादियों का झुकाव कम्युनिस्ट विचारधारा की तरफ होता।

फिर भी इसके काफी दिनों बाद तक वीएतनाम के राष्ट्रीय आन्दोलन पर कम्युनिस्टों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन साम्राज्यवाद की दमन नीति और अविकसित राष्ट्रों की कुछ आधारभूत स्थितियाँ दोनों मिलजुल कर कम्युनिस्टों के विजय की लिए जमीन तैयार

कर रही थीं। अविकसित राष्ट्रों की परिस्थिति में, जहाँ साम्राज्यवाद ने अपने साम्राज्य के पाये के रूप में कुछ स्थानीय स्वार्थों को जन्म दिया था, किसी भी क्रान्तिकारी आन्दोलन का टकराव इन स्थानीय निहित स्वार्थों से होने लगता था। इस तरह कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन इन उच्चवर्गीय लोगों के नेतृत्व में चलाना सम्भव नहीं था। दूसरी ओर चूँकि फ्रांसीसी साम्राज्यवाद घोर दमन नीति के सहारे टिका हुआ था, इन स्थानीय निहित स्वार्थों के साथ समझौता करके काम चलाना भी नहीं चाहता था। इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक उग्रता की ओर बढ़ा और इसके अनुकूल सिद्धान्त सिर्फ कम्युनिस्ट ही दे सकते थे जो राष्ट्रीय निहित स्वार्थों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए भी तैयार थे।

यह स्थिति १९३०-३१ में बिल्कुल स्पष्ट हो गयी। इसी काल में कुछ धनी मानी वीएतनामी नेताओं के नेतृत्व में, जिनका प्रभाव सिविल सर्विस तथा सैनिक अफसरों में भी था, येन-वे में विद्रोह प्रारम्भ हुआ और इसने एक व्यापक रूप पकड़ लिया। लेकिन एक व्यापक जन आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करने को क्षमता इस वर्ग में नहीं थी। फ्रांसीसियों ने घोर दमन का सहारा इसे दबाने के लिए लिया। इसी काल में वहाँ दुर्भिक्ष पड़ा और इससे उत्पन्न असंतोष के वातावरण में कम्युनिस्टों ने यत्र-तत्र जनता के सोवियत बनाने का प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता तो नहीं मिली लेकिन सरकारी दमन के फलस्वरूप कम्युनिस्ट तथा अन्य राष्ट्रीयवादी एकही कैदखानों में डाल दिये गए। अब राष्ट्रीयता और कम्युनिज्म का गठबन्धन पूर्ण हो गया। इसके बाद राष्ट्रीयता कम्युनिज्म के नेतृत्व में और कम्युनिज्म उग्र राष्ट्रीयता के रूप में पनपने लगे। उत्तरी वीएतनाम के मुक्ति युद्ध के सर्वोच्च सेना नायक वो-न्गुयेन जिअप जो इस आन्दोलन के समय एक राष्ट्रवादी नवयुवक था जेल ही से कम्युनिस्ट हो कर निकला और बाद में कम्युनिस्ट गुरिल्ला दस्ते के संचालन से दुनियाँ को चमत्कृत कर दिया। लेकिन कम्युनिस्ट बन जाने से जिअप की राष्ट्रभक्ति में कोई कमी नहीं आयी बल्कि राष्ट्रीयता ने एक नयी राह पकड़ी।

इस घटना के कुछ साल बाद फ्रांस में 'जनवादी मोर्चे' की सरकार बनी। इससे वीएतनाम की स्वाधीनता तो नहीं मिली, लेकिन साम्राज्यवाद के खिलाफ नफरत फैलाने को छूट अवश्य मिली। लेकिन १९३६ में 'जनवादी मोर्चे' की सरकार खतम हो गयी, कम्युनिस्ट पार्टी अवैध कर दी गयी और फ्रांसीसी दमन के कारण तीव्र संघर्ष की एकमात्र राह मुक्ति आन्दोलन के सामने रह गयी। १९४० में जिअप की बहन को प्राणदण्ड मिला और उसकी पत्नी जेल में मर गयी। राष्ट्रीय आन्दोलन भूमिगत हो गया। जिअप जंगलों और पहाड़ों में भविष्य की मुक्ति सेना के गठन में लग गया। इसके बाद ही जापानी आक्रमण हुआ। फ्रांसीसी सत्ता ने वीएतनाम को मुक्त करने के बजाय जापान के सामने आत्म-समर्पण करना ज्यादा प्रतिष्ठित समझा और उसके आधीन वीएतनाम की अन्तरिक-व्यवस्था को सम्हालती रही।

इसी के बाद १९४१ में दक्षिणी चीन के चिंगसी शहर में हो-चिह-मिन्ह के नेतृत्व में राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों को एक-पुत्र में बाँध कर वीएत मिन्ह (वीएतनाम स्वतन्त्रता संघ) की स्थापना हुई। इसने जापानियों के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग की नीति अपनाई। साथ ही इसने फ्रांसिस्टों के साथ सहयोग करने वाली फ्रांस की विची सरकार के खिलाफ

संघर्ष की नीति का पूरा मेल इनके राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य के साथ बैठता था। इसी काल में वो-न्गुयेन जिअप और दाङ्ग जुआन खू माओ-त्से-दुङ्ग के साथ उनके युद्ध कौशल का अध्ययन करने गये। खू वहाँ से पूर्ण रूप से माओ का अनुयायी बन कर लौटा और अपने को वुथ्रौङ्ग चिन्ह (लम्बी यात्रा) कहने लगा। इस नये नाम का निर्देश माओ की ऐतिहासिक लम्बी यात्रा की ओर था। लेकिन उस समय तक माओ सिर्फ एक कम्युनिस्ट नेता था, राज-नायक नहीं और इससे खू के चीनी एजेन्ट का भ्रम दिमाग से निकाल देना चाहिए।

पहले पहल १९४४ के अन्त में जिअप ने ३४ व्यक्तियों से वीएत मिन्ह फ्रौज की नींव डाली। उस समय इनका काम इस क्षेत्र के अमरीकी कमान के साथ सहयोग का था और वे जापानियों की सैनिक गतिविधि की खबर गुप्त रूप से उन्हें पहुँचाते थे। लेकिन इनका सबसे प्रमुख काम था वीएतनाम में भूमिगत काम का जाल बिछाने और प्रचार का। धीरे-धीरे इन्होंने गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ किया और इनकी शक्ति तेजी से फैलने लगी। इधर जापान ने १९४५ में फ्रांसीसियों को आन्तरिक व्यवस्था से भी निकाल दिया और अनाम के राजा बाओ दाई की कठपुतली सरकार कायम की। इसी समय युद्ध में जापान के आत्म-समर्पण की चर्चा चारों ओर होने लगी। वीएतमिन्ह छापामारों ने अब खुल कर हमला करना शुरू किया। फ्रांसीसी और जापानी शासन से त्रस्त जनता ने खुले दिल से इनका स्वागत किया। इसके बाद जो घटनाओं का क्रम रहा उसने पाश्चात्य राष्ट्रों की बेईमानी और संयुक्त राष्ट्र की घोषणाओं के बावजूद गुलाम मुक्तों पर अपना अधिकार पूर्ववत् रखने के उनके हठ को स्पष्ट कर दिया।

जापान के आत्म-समर्पण की खबर पा वीएतमिन्ह ने जनता से सत्ता हाथ में लेने का आह्वान किया। देश भर में वीएतमिन्ह क्रान्तिकारी समितियाँ उभर आयीं। १९४५ के अगस्त महीने में जिअप अपने सेना के साथ हानोई पहुँच गया। जनता के विद्रोह के सामने जापानी कठपुतले बाओ दाई ने सत्ता का परित्याग कर दिया। लेकिन फ्रांसीसी अभी स्थिति के साथ समझौता करने को तैयार नहीं थे। वीएतनाम के दक्षिणी हिस्से में वीएतमिन्ह को इतनी सफलता नहीं मिल पायी। वहाँ पर अंग्रेजी सेना पहले से जापानियों का स्थान लेने चली आयी थी। चूँकि अंग्रेजी सेना कम संख्या में थी इसलिए जापानियों के आत्म समर्पण के बाद यह इस स्थिति में नहीं थी कि आन्तरिक व्यवस्था को सम्हाल पाती। राष्ट्रीय शक्तियों के हाथ में सत्ता देना इसे किसी भी क्रोमट पर मंजूर नहीं था। इसलिए इसने कल तक के दुश्मन जापानियों के जिम्मे आन्तरिक व्यवस्था की जवाबदेही सौंप दी। इसके बाद अंग्रेजी फ्रौजो वर्दी में फ्रांसीसिया को वीएतनाम पर लादने का प्रयत्न होने लगा। २३ सितम्बर १९४५ को दक्षिण वीएतनाम का शासन पुनः फ्रांसीसियों के हाथ सौंप दिया गया। उधर उत्तर में राष्ट्रवादी (कोमिङ्ग ताङ्ग) चीनी फ्रौज आत्म-समर्पण करने वाले जापानियों का स्थान लेने चली आयी। इसी समय हो ने अपने संगठन के आधार को विस्तृत करने की दृष्टि से हिन्द-चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का विघटन कर दिया और आम चुनाव करवाया जिसमें उसकी भारी विजय हुई। इसके बात वीएतनाम के प्रजातान्त्रिक गणतन्त्र की घोषणा हुई। पहले तो राष्ट्रवादी चीनिगों ने वीएतमिन्ह के साथ अच्छा सम्बन्ध रखा लेकिन फ्रांस के साथ समझौता हो जाने से चीनी अपने फ्रौज हटा फ्रांसीसियों के हाथ वीएतनाम की व्यवस्था सौंप देने पर राजी हो गये। चूँकि वीएतमिन्ह

सेना चीनी सेना और फ्रांसीसी दोनों के साथ एक ही समय युद्ध करने की स्थिति में नहीं थी, हो-चिंह-मिन्ह को फ्रांसीसियों के साथ समझौता करना पड़ा। मार्च १९४६ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार फ्रेंच यूनिन के मातहत हिन्द चीन संघ में वीएतनाम एक स्वशासित इकाई बन गया। इस तरह वीएतमिन्ह को कुछ स्वतन्त्रता तो मिली पर सत्ता फ्रांसीसियों के हाथ में ही रही। इसके बाद हो-चिंह-मिन्ह और फाम-वान-दौङ्ग वार्ता के लिये पेरिस गये। पर फ्रांसीसी अपना दृष्टिकोण बदलने के लिये तैयार नहीं थे। वे सिर्फ टोकिङ्ग में फ्रांसीसी सैनिकों के पहुँचने को प्रतीक्षा में थे। वीएतमिन्ह फ्रांस की इस चाल को समझ रहे थे। इसलिये जिअप पुनः पहाड़ों में अपने सैनिक संगठन में लग गया। इस आशा से कि शक्ति प्रदर्शन से वीएतमिन्ह को दबाया जा सकेगा है फौज की घनी वीएतनामी आबादी के हल्के पर फ्रांसीसियों ने हवाई जहाज और युद्ध पोतों से भारी गोलाबारी की। इसमें लगभग छः हजार वीएतनामी मारे गये। अब इस शक्ति प्रदर्शन के बाद फ्रांसीसी नयी माँग वीएतमिन्ह के सामने रखने लगे। हो-चिंह-मिन्ह ने फ्रांस के नव निर्वाचित सोशलिस्ट प्रधान मंत्री लियोन ब्लुं को स्थिति को बिगड़ने से बचाने का आग्रह करते हुए तार भेजा। लेकिन कुछ नतीजा नहीं निकला और स्थिति बिगड़ती गयी। वीएतनाम पर फ्रांसीसी शक्ति प्रदर्शन ने एक लम्बा युद्ध लाद दिया। इस युद्ध का परिणाम सर्व विदित है। सात साल बाद १९५४ के मई महीने में डीएन-बीएन-फू में अन्तिम रूप से फ्रांसीसी सैन्य शक्ति की पराजय हुई और जेनेवा सम्मेलन में हिन्द-चीन सम्बन्धी वार्ता का प्रारम्भ हुआ।

वीएतनाम में फ्रांस की पराजय हो गयी पर जेनेवा में और उसके बाद फ्रांस और फिर अमरीका इंच-इंच भूमि को छोड़ने के पहले अड़ंगे लगाते रहे और ऐसी स्थिति पैदा करते रहे जिसमें एक स्थायी हल या शांति इस क्षेत्र में नहीं कायम हो। २० जुलाई १९५४ में युद्धविराम पर हस्ताक्षर हो गया। १७ अक्षांश के लगभग एक युद्ध विराम रेखा निश्चित की गयी। उत्तरी और दक्षिणी वीएतनाम के सैनिकों को इस विराम रेखा के पार अपने क्षेत्रों में वापस हो जाने का आदेश दे दिया गया। लेकिन दक्षिण वीएतनाम की सेना किसकी थी? जब फ्रांसीसियों की शक्ति टूटने लगी तो वे पूर्व के जापानी कठपुतले बाओ दाई को पुनः सत्ता में लाये। लेकिन बाओ दाई ने स्थिति को बिगड़ता देख, फ्रांसीसी हार के बाद न्गो दिन्ह जोयम को प्रधान मंत्री बना वास्तविक सत्ता देने का निर्णय किया।

जोयम ने राष्ट्रीय आन्दोलन में कोई महत्वपूर्ण हिस्सा नहीं लिया था। लेकिन एक समय कुछ सिद्धान्तों के सवाल पर फ्रांसीसी राज्य व्यवस्था में एक अच्छे पद का त्याग करने के कारण लोगों में जोयम की कुछ प्रतिष्ठा थी। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अब फ्रांस के कष्ट निवारण के लिए (या फ्रांस की विदाई के लिए) इस क्षेत्र में अमरीका विशेष जवाबदेही उठाने लगा था और जोयम उसके पसन्द का उम्मीदवार था। दक्षिण वीएतनाम का शासक होने के जोयम के दावे का चाहे जो औचित्य हो, जेनेवा समझौते में दो वीएतनाम के अस्तित्व को मान्यता मिल गयी। इसके अनुसार उत्तरी वीएतनाम में वीएतमिन्ह की सरकार कायम हो गयी।

लेकिन इसके साथ एक शर्त लगी थी। जेनेवा सम्मेलन ने यह निर्णय किया था कि

वीएतनाम में जुलाई १९५६ में अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के निरीक्षण में चुनाव कराया जायेगा और दोनों भागों का एकीकरण एक निर्वाचित सरकार के नीचे होगा। हालाँकि अमरीका जेनेवा सम्मेलन का एक सदस्य था उसने इस समझौते को अपनी मंजूरी नहीं दी। न तो जीयम ने इस समझौते को मान्यता दी। कारण स्पष्ट था। किसी भी चुनाव में भारी बहुमत वीएतमिन्ह का होता। लेकिन दुनियाँ को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने के उद्देश्य को लेकर चलने का ढिंढोरा पीटने वाले अमरीकी शासकों के लिए एशियाई जनमत का कोई मूल्य नहीं। अमेरिकियों के इशारे पर जीयम के प्रतिनिधि ने भी समझौते पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। इस तरह वीएतनाम की एकता के शांतिपूर्ण और प्रजातान्त्रिक हल का एकमात्र रास्ता अवरुद्ध हो गया। १६ जुलाई १९५५ को रेडियो पर अपने एक वक्तव्य में जीयम ने स्पष्ट रूप से कह दिया “हम लोगों वे जेनेवा समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किया है....हम लोग किसी भी तरह वीएतनामी जनता की इच्छा के विरुद्ध किये गये उस समझौते से बंधे नहीं हैं। हम लोग अपने देश की स्वाधीनता में एक करने के किसी अवसर को हाथ से जाने नहीं देंगे। लेकिन वीएतमिन्ह के किसी सुझाव पर विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता जब तक वे इस बात का सबूत नहीं देते कि वे कम्युनिज्म से ज्यादा महत्त्व राष्ट्रीय हित को देते हैं।” अब स्पष्ट था कि वीएतनाम के दक्षिणी भाग को पाश्चात्य नियन्त्रण से मुक्त कर सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता का एकमात्र मार्ग क्रान्तिकारी युद्ध का रह गया। अमरीका और जीयम के इस खल को अपना लेने के बाद उत्तरी वीएतनाम पर जेनेवा समझौते की इस शर्त का कि वह हथियार या हथियारबन्द लोगों को दक्षिण वीएतनाम में नहीं भेजे, कोई नैतिक बन्धन नहीं रह गया। इस बदली परिस्थिति में भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के सदस्य की हैसियत से उत्तरी वीएतनाम पर यह आरोप लगा कर कि वह हमला और विद्रोह फैलाने के लिये दोषी है अपनी स्थिति हास्यास्पद बनायी और उत्तरी वीएतनाम की शत्रुता बेवजह मोल ली। वास्तव में वीएतनाम का विभाजन वैसा ही है जैसा कि भारत और गोवा का था या जर्मनी का है। जैसे भारत गोवा को शक्ति के बल स्वतन्त्र करने का हक्कदार था वीएतनामियों को वैसे ही वीएतनाम में शक्ति के बल एकता और स्वाधीनता स्थापित करने का हक है। जर्मनी में आज तक एकता इस लिये नहीं हो पायी चूँकि वहाँ रूस को स्वतन्त्र चुनाव अमान्य है क्योंकि इससे पूरे जर्मनी पर गैर कम्युनिस्टों का राजनीतिक अधिकार फैल जायेगा। लेकिन अमरीकी जर्मनी में एकीकरण के लिये हमेशे स्वतन्त्र मतगणना के लिये जोर देते रहे हैं वीएतनामी जनता को यह हक्क देने को तैयार नहीं। क्या इसलिए कि वीएतनाम एक एशियाई देश है और पिछड़े एशियावासियों के आत्म निर्णय के अधिकार का कोई महत्त्व नहीं? अमरीका ने अपनी कूट नीति से पहले दक्षिणी वीएतनाम की जनता को हथियार लेने को मजबूर किया है और अब उत्तरी वीएतनाम के हस्तक्षेप का बहाना बना उत्तरी वीएतनाम पर हवाई हमले करना शुरू किया है। इन हवाई हमलों का एकमात्र उद्देश्य उत्तरी वीएतनाम को इतना क्षतिग्रस्त कर देना है कि वह घुटने टेक अमरीका के साथ समझौता करने पर मजबूर हो जाय।

कम्युनिस्ट तानाशाही से मुक्ति दिलाने के लिए जिस तरह के शासन की स्थापना दक्षिण वीएतनाम में की गयी उस पर दृष्टि डालने से पाश्चात्य देशों के ‘स्वच्छ’ इरादे और

क ख ग—११

भी स्पष्ट हो जाते हैं। जब जीयम को दक्षिण वीएतनाम का प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया, उस समय जिन गरोहों से उसे सहयोग करने को मजबूर किया जा रहा था उसमें एक था बिन्ह जुयेन जिसके हाथ में सैगोन और चोलोन की पुलिस व्यवस्था थी, ग्रैय मोंद का विशाल जुए का अड्डा था, एशिया का सबसे बड़ा वेश्यालय 'हॉल ऑफ़ मिरर्स' था और अफ्रीम के कारखाने थे जो कानूनी दृष्टि से अवैध थे। इनकी आय में बाओ-दाई की भी साझीदारी थी। दूसरे गरोह थे काओ दाई, होआ हाओ आदि जिनके पास निजी सेनाएँ थीं जिनमें हजारों सैनिक थे। ये समय-समय पर लूटमार करते रहते थे। जीयम पर इन गरोहों से बराबरी के स्तर पर सहयोग करने का बराबर दबाव पड़ता रहा। ब्रिटेन के कमिशनर जनरल मैलकम मैकडोनेल्ड इस पर दाई वीएत नामक फ्रांसिस्ट संगठन के साथ सहयोग करने का दबाव डाल रहे थे। व्यक्तिवादी जीयम ने इनके साथ तो समझौता नहीं किया और संघर्ष में इन गरोहों की और बाओ दाई की सत्ता को भी खतम कर दिया, लेकिन जीयम के इर्द-गिर्द जो लोग थे वे इनसे किसी भी माने में कम नहीं थे। जीयम के परिवार वाले उसकी स्थिति का पूरा फायदा उठा रहे थे। एक भाई कैन मध्य वीएतनाम को अपने सामंत राज्य के रूप में चला रहा था। दूसरे भाई नू के हाथ में अनगिनत जुए के अड्डे, अफ्रीम के कारखाने, और चीनी व्यापारियों के साथ अवैध व्यापार के केन्द्र थे। नू ने कई नाम से गुप्त पुलिस दल और सैनिक टुकड़ियों को निजी तौर से संगठित किया था और इनका इस्तेमाल राजनैतिक विरोधियों के खिलाफ होता था। पुअलों कंदोर के टापू पर पुनः राजनीतिक बन्धियों की भीड़ होने लगी और राजनीतिक विरोधियों को पिंजरे तक में बन्द रखने की व्यवस्था की गयी। चुनाव हुए, लेकिन उतने ही स्वतंत्र जितने कम्युनिस्ट या फ्रांसिस्ट राज्यों में होते रहे हैं। जो जहाँ था वहीं मालामाल होने में लगा था। जब जेनेवा समझौते के अनुसार वीएतनाम का विभाजन होने लगा तो उत्तरी वीएतनाम से भागने वाले शरणार्थियों में सबसे आगे वहाँ की वेश्याएँ थीं। उनकी शिकायत थी कि कम्युनिस्ट यौन विहीन होते हैं। इसके विपरीत दक्षिण वीएतनाम में, खास तौर से अमरीकी सैनिकों के आ जाने से, उनके व्यवसाय में चार चाँद लग गये।

जीयम को जो भी कमज़ोरियाँ रही हों उसने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने की कोशिश की। यह बात अमरीकी अधिकारियों को खटकने लगी, और इस तरह जायम का पतन हो गया। इसके बाद वीएतनाम के दक्षिणी हिस्से में नाम के लिए भी कोई असैनिक शासन नहीं बचा है, और सैनिक शासन हथियार और धन दोनों के लिए अमरीका पर आश्रित है।

अमरीका का घोषित उद्देश्य पिछड़े देशों में आर्थिक स्थायित्व स्थापित करना रहा है और उसके अनुसार कुछ सीमित सैनिक कार्रवाई इसे इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मजबूरी करनी पड़ती है। अब हम देखें कि इस उद्देश्य की पूर्ति दक्षिण वीएतनाम में कहाँ तक हुई है। अमरीका सहायता के कारण, जहाँ पहले वीएतनाम लाखों टन चावल का निर्यात करता था, आज इसे लाखों टन चावल बाहर से लोगों के खिलाने के लिए मँगाना पड़ रहा है। इसका एक बड़ा कारण अमेरिकी सहायता का स्वरूप है। १९५५ और १९६० के बीच अमरीका से दक्षिण वीएतनाम को १३०.२ करोड़ डालर विकास के लिए सहायता के रूप में मिले जिसमें आधा से अधिक उपभोग के सामान थे। पर इस कृषि प्रधान देश में सिर्फ १.५ करोड़ डालर

कृषि के ऊपर खर्च हुआ। अमरीकी सहायता का कुछ चरित्र ही ऐसा है। उदाहरण के लिए २० लाख आबादी के पड़ोसी लाओस में, जहाँ औरतें अपनी आवश्यकता के लायक कपड़े स्वयं बुन लेती थीं और अन्य आवश्यकता के सामानों के मामले में लाओस स्वावलम्बी था, अमरीकी सहायता के आने पर १९५७ ई० में ८९ लाख डालर के सूत और कपड़े, ४० लाख डालर के तैयार खाद्य पदार्थ, शराब आदि और ७० लाख डालर की मोटर गाड़ियों का आयात हुआ। यहाँ तक कि टेलिविज़न सेट तक मँगाये गये जब कि टेलिविज़न का प्रसारण केन्द्र भी यहाँ नहीं था। इस तरह अमरीका की सहायता से आन्तरिक अर्थ व्यवस्था नष्ट होती गयी और विदेशों पर निर्भरता बढ़ती गयी है। इस स्थिति का फ़ायदा स्थायी रूप से अमरीकी उद्योग को मिलता है।

ऐसी स्थिति में 'वीएतनाम' की वास्तव में उस समय की सत्ता के विरोध में विद्रोह करने के लिए किसी बाहरी सहायता की ज़रूरत नहीं थी। विस्फोट के लिए पर्याप्त बारूद जमा हो चुका था। यही कारण था कि जब १९६० में 'राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे' का संगठन दक्षिण वीएतनाम में हुआ तो सभी विचार के राष्ट्रभक्त इसमें शामिल हो गये। दक्षिण वीएतनाम की कम्युनिस्ट पार्टी का आधार विस्तृत करने के लिए इसे पहले ही विघटित कर दिया गया था और इसके स्थान पर 'पिपुल्स रिबोल्युशनरी पार्टी' का गठन हुआ था। इस मोर्चे में रेडिकल सोशलिस्ट और डेमोक्रेटिक पार्टियाँ भी शामिल हो गयीं। इस मोर्चे का नेतृत्व निश्चित रूप से कम्युनिस्टों के हाथों में रहा है। लेकिन इसका कारण भी स्पष्ट है। आज वीएतनाम का मुक्ति संघर्ष पूर्णतया दो कम्युनिस्ट राष्ट्र रूस और चीन के समर्थन पर आश्रित है। उनके साथ अधिक से अधिक अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना उनके लिए आवश्यक है, और कम्युनिस्ट नेतृत्व के भीतर ही यह सम्भव है। वीएतनाम के सम्बन्ध में अपनी नीति निर्धारित करते समय हम पड़ोसियों को यह बात ध्यान में रखना है और कम्युनिज़्म और खास तौर से चाऊ-माऊ के हाँके से घबड़ा कर अपने अनहित की नीति की ओर दौड़ लगाने से बचना है।

वीएतनाम में न्याय और अन्याय के पक्ष कौन है यह इतना स्पष्ट है जितना विदेशी अधिकार के क्षेत्र में रहने वाले गुलाम मुल्कों में ही सम्भव है। फिर भी जो स्वयं कल तक गुलामी में बँधे हुए थे उन एशियाई और अफ़्रीकी देशों में भी कोई जोरदार आवाज़ वीएतनामी जनता के मुक्ति संघर्ष के समर्थन में नहीं उठ पायी है। स्वयं भारत, जिसने गुलाम होते हुए भी स्पेन के गृहयुद्ध में गणतन्त्रवादी शक्तियों के समर्थन में और जापानी आक्रमण के विरुद्ध चीनी स्वतन्त्रता के लिए जबर्दस्त आवाज़ उठाई थी, की नीति वीएतनाम के सम्बन्ध में बिल्कुल नकारात्मक रही है। इसका कारण यह है कि तीन बड़ी शक्तियाँ रूस, चीन और अमरीका के इस युद्ध में उलझ जाने से असली शक्ति, वीएतनामी जनता की आकांक्षाएँ गौण सी हो गयी हैं और इसके महत्त्व को लोग भूलने लगे हैं। भारत में प्रमुख रूप से चीनी प्रसारवाद का भय एक सही दृष्टिकोण अपनाने में बाधा उपस्थित कर रहा है। धीरे-धीरे लोग इसे पंगु बनाने वाले विचार की ओर झुक रहे हैं कि अमरीका चीन से निपट लेगा और बाक़ी एशिया अमरीकी बचाव की छाया में शांतिपूर्ण जीवन बिता सकेगा। ऐसी स्थिति में अमेरिका को नाराज़ करने वाला कोई क़दम क्यों उठाया जाय ? हम एशियाई इस बात से भी शर्मिन्दा नहीं होते कि स्वयं क ख ग—११

अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों में अमरीका की अमानुषिक और युद्ध को विस्तृत करने की वीएतनाम नीति के विरुद्ध जबर्दस्त विरोध शुरू हो गया है। २७ नवम्बर १९६५ को १०,००० लोगों ने वार्शिंगटन में व्हाइट हाउस के सामने वीएतनाम के युद्ध को बन्द करने के लिए प्रदर्शन किया। ऐसे प्रदर्शन इंग्लैण्ड और पश्चिमी यूरोप के प्रधान नगरों में भी हुए।

लेकिन अपनी सुरक्षा की दृष्टि से भी हमें वीएतनाम में वहाँ के स्वाधीनता सैनिकों का खुल कर समर्थन करने की नीति अपनाना चाहिये। हम वीएतनामी जनता के स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास और फिर कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास से इसके संतोषप्रद नतीजे की आशा रख सकते हैं। वीएतनामी जनता जिस हिम्मत के साथ अपने संघर्ष को प्रमुख रूप से अपनी शक्ति के बल चलाती रही है उससे यह निश्चित है कि चाहे चीन हो या रूस वहाँ कोई कठ-पुतली सरकार कायम रखने में असफल होगा। कम्युनिस्ट राष्ट्रों का इतिहास यह बतलाता है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन शक्तिशाली होते ही घोर राष्ट्रीयतावादी हो जाता है। स्तालिन और टीटो का संघर्ष इसी कारण हुआ और अन्ततोगत्वा युगोस्लाविया रूस के प्रभाव क्षेत्र से बिल्कुल बाहर निकल आया। युगोस्लाविया ने यह राष्ट्रीयतावादी कदम औरों से पहले उठाया क्योंकि टीटो ने पिछले विश्व युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध स्वयं एक शक्तिशाली राष्ट्रीय मोर्चे का गठन कर लिया था और इससे उसे अपनी शक्ति पर भरोसा था। लेकिन पूर्वी यूरोप के वे राष्ट्र भी, जहाँ कम्युनिस्ट पार्टियाँ रूसी संगीनों के सहारे सत्ता में आयी थीं, धीरे-धीरे रूस के बंधन से मुक्त होते गये। रूमानिया और पोलैण्ड आज काफी हद तक अपनी स्वतन्त्रता आर्थिक और राजनीतिक मामलों में बनाये हुए हैं और अमरीका इन्हें व्यापार के मामले में विशेष सुविधा प्राप्त राष्ट्रों में रखे हुए है। छोटा सा कम्युनिस्ट राष्ट्र अल्बानिया तक रूस को घृता बता सकता है। अभी तक वीएतनाम के कम्युनिस्टों ने ऊपर बतलाये गये सभी देश के कम्युनिस्टों से अधिक स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखा है। इसलिये यह निश्चित है कि भविष्य में वह चीन के सामने और भी अधिक स्वतन्त्र हस्ती कायम रख सकेगा। इसके अलावा वीएतनाम के कम्युनिस्टों का एक लक्ष्य वीएतनाम, कम्बोडिया और लाओस को एक संघ में बाँधने का रहा है। अगर इस लक्ष्य में वे सफल हुए तो चीन के प्रसार पर एक शक्तिशाली अंकुश इस क्षेत्र में लग जायेगा।

वीएतनाम के साथ अपने सम्बन्ध को सुधारने में एक और बात हमारे लिए सहायक होगी : वीएतनाम की कम्युनिस्ट राजनीति में रूस का बढ़ता प्रभाव। १९५१ तक वीएतनाम में प्रमुख रूप से चीनी सहायता ही आती रही थी। लेकिन उसके बाद से रूसी सहायता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी और अब वहाँ रूस के मुकाबले चीनी सहायता नगण्य है। यह बात चीन के वीएतनाम की सीमा पर स्थित होने की सहूलियत को बहुत हद तक खतम कर देती है। रूस का सिकिगाङ्ग और बाहरी मंगोलिया को लेकर चीन के साथ स्वयं एक बहुत बड़ा झगड़ा है, अतः रूस यह नहीं चाहता कि चीन का पलड़ा एशियाई शक्ति संतुलन में इतना भारी पड़े कि वह निष्कण्टक हो रूस के साथ अपनी सीमा के मामले को शक्ति के बल सुलझाने की बात सोचने लगे। अपने इस उद्देश्य को पूर्ति के लिए वह चीन की सीमा पर चीन से स्वतन्त्र सबल शक्तियों के उदय का स्वागत करेगा। कुछ हद तक भारत के साथ उसके बढ़ते मेलजोल

का भी यही उद्देश्य है। वीएतनाम में भी वह अपनी इस नीति को सफल बनाने का प्रयत्न करेगा। यहाँ उसे दोहरा फ़ायदा यह है कि वीएतनाम में एक कम्युनिस्ट राज्य कायम रहेगा और इस तरह उसे इस राज्य को अपने विपत्ती अमरीकी कैम्प में जाने से रोकने के लिए सतत सजग रहने की आवश्यकता नहीं होगी। भारत के लिये इस क्षेत्र में अपना सम्बन्ध बढ़ाने का यह बहुत ही बड़ा सुयोग है। साथ ही चूँकि रूस इस क्षेत्र से हजारों मील दूर है यहाँ की सरकार के रूस का कठपुतला बनने का भय भी नहीं है। इस तरह दक्षिण पूर्व एशिया और खास तौर से वीएतनाम में, अपनी पर राष्ट्रनीति में, भारत रूस के साथ सहयोग की नीति अपना सकता है।

अमरीकी हस्तक्षेप का एक मात्र नतीजा रूस के इस उद्देश्य को विफल करने का रहा है। अमरीका जितनी ही शक्ति से वीएतनाम में युद्ध को बढ़ाने का प्रयास करेगा उतना ही वीएतनाम को चीन के निकट जाने को विवश होना पड़ेगा। क्योंकि युद्ध के प्रसार होने पर रूसी शस्त्र ही काफ़ी नहीं होंगे और सैनिक कार्रवाई की दृष्टि से रूस बहुत दूर है। हथियारों को पहुँचाने का सुरक्षित मार्ग भी चीन होकर ही है। अतः चीनी सैन्य शक्ति की सहायता और उनका प्रभुत्व बुलाना आवश्यक हो जायेगा। अतः सम्पूर्ण एशिया का स्थायी स्वार्थ इसी में है कि वीएतनाम से अमरीकी सैनिक बाहर जायें और वीएतनामी अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करें।

यह आशा रखना कि अमरीका एशियाई देशों की सुरक्षा की गारंटी दे सकता है आकाश कुसुम तोड़ने जैसा है। अमरीका कहीं भी अपने को उलझाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी शक्ति बनाये रखने और स्थायी रूप से अपने आर्थिक स्वार्थों की सुरक्षा के लिए। अगर उसके इन स्वार्थों की सिद्धि के बजाय इन उलझनों से उसे नुकसान हाता दिखेगा तो वह तुरन्त अपना पल्ला इन भगड़ों से छुड़ाने का प्रयत्न करेगा। इसके अलावा एशियाई देशों के साथ अमरीका का कोई वैसा भावनात्मक सम्बन्ध नहीं जैसा कि पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ है। इस कारण भी वह हमारी सुरक्षा के सम्बन्ध में एक सोमा के भीतर ही जवाबदेही लेने को तैयार होगा। इसी कारण जहाँ 'नाटो' सन्धि में सम्मिलित राष्ट्रों का एक सैनिक कमान कायम किया गया और इनमें किसी एक पर आक्रमण सभी सम्मिलित राष्ट्रों पर आक्रमण माना गया, वहाँ 'सीटो' में सम्मिलित राष्ट्रों का कोई एक कमान नहीं कायम हुआ और इस में सिर्फ़ यही कहा गया कि इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राष्ट्र पर हमला सबों की शांति और सुरक्षा पर हमला समझा जायेगा। यह तय करना कि इन खतरों को हटाने के लिए किस हद तक प्रयत्न हो अलग-अलग राष्ट्रों का निजी मामला छोड़ दिया गया। इस तरह जहाँ अमरीका के इस क्षेत्र में बने रहने से सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं, वहाँ इससे आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप, आर्थिक विस्तृखलन और अन्तर्राष्ट्रीय शीत युद्ध में उलझाव की सम्भावनाएँ बढ़ती जाती हैं।

इस तरह एशिया के राष्ट्रों की सुरक्षा का मामला अन्तिम रूप से उनकी आन्तरिक शक्ति पर ही निर्भर करेगा। लेकिन इसको बहुत बड़ा बल मिलेगा अगर एशिया के सभी राष्ट्र बाहरी प्रभावों से मुक्त और सशक्त हों। इन राष्ट्रों की सजगता और आवश्यकता पड़ने पर

आक्रमणकारी शक्तियों के खिलाफ सम्मिलित प्रयास करने की तैयारी ही एशिया में स्वतन्त्रता की असली गारंटी हो सकती है। इस दृष्टि से बीएतनाम का इसकी वर्तमान कठिनाइयों से निकलकर एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से एशिया की राजनीति में आना बहुत ही महत्वपूर्ण है। आज इस काम में सबसे बड़ी बाधा अमरीकन हस्तक्षेप है। आज यह हमारे अपने हित में और सम्पूर्ण एशिया के हित में है कि हम न केवल मौखिक बल्कि सक्रिय सहयोग बीएतनाम के स्वाधीनता सैनिकों को दें जिसमें अमरीकी सैनिकों की विदाई शीघ्र इस क्षेत्र से हो जाय।

बेमानी दिन

कृष्ण बिहारी सहल

बड़ा बेमानी दिन है
कुछ भी काम नहीं,
उठा और
पूजा करने लगा
पत्नी से लड़ाई थी,
खाना नाले में बहा दिया,
जोर जोर से सुबकती
पत्नी की आवाज
लोगों की फुस-फुसाहट न जगाये
रेडियो खोल दिया,
और लड़ाई के समाचार
सुनने लगा।
मैं जानता हूँ कि
आज रात वह मेरे साथ नहीं
सोयेगी,
इसलिए पिकचर देखने चल दिया।
सभी नंगी औरतें
एक सी ही होती हैं
पर पो० डब्ल्यू० डी०
यह सड़क क्यों नहीं बनाती ?

भारत, चीन और पाकिस्तान की विदेशी नीति और उसके अभिग्रस्तीकरण

प्रमोद मोहन पाण्डेय

प्रत्येक देश की विदेश नीति स्वार्थ पर आधारित होती है। आदर्शवादो सिद्धान्तों का समावेश इसमें राष्ट्रीय स्वार्थ को हटा कर नहीं किया जा सकता। हाँ कूटनीति में सकल देश अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को ऐसा बाना पहना देते हैं कि उनकी विदेशी नीति आदर्शों पर आधारित लगती है। विदेश नीति के निर्धारण के समय राज्य की परम्परा, इतिहास, आर्थिक अवस्था, नेतृत्व, सुरक्षा की आवश्यकता एवं वाद विश्वास आदि का ध्यान रखा जाता है। साम्यवादी देशों की विदेश नीति में इतिहास और परम्परा पर ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि वहाँ की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था नये सिरे से प्रारम्भ होती है। गैर साम्यवादी देशों में ऐसी बात नहीं है।

राज्यों की विदेश नीति की सफलता का आधार है (१) राष्ट्रीय हितों की पूर्ति (२) संकट के समय विदेश नीति से लाभ तथा (३) संसार के राज्यों में उसका सम्मान, स्थिति एवं महत्त्व का प्रतिष्ठापन। इन प्रश्नों के सन्दर्भ में हम जब भारत, चीन और पाकिस्तान की विदेश नीति को देखेंगे तो उनकी तुलनात्मक सफलता असफलता का उचित ज्ञान होगा। परन्तु इसके पूर्व इन देशों की वैदेशिक नीति के निर्धारण में किन तत्वों ने क्या सहयोग किया, इसकी भी विवेचना आवश्यक है।

भारत और पाकिस्तान १९४७ में एक साथ ही स्वतंत्र हुए, साथ ही एक प्रजातन्त्रीय प्रभुसत्तात्मक राज्य बने। १९४९ में साम्यवादी चीन का भी स्वतंत्र एवं प्रभुसत्तात्मक राज्य के रूप में उदय हुआ। इस प्रकार तीनों देश स्वतन्त्र राज्य के रूप में करीब-करीब एक ही समय अस्तित्व में आये। तीनों एशियाई देश हैं, जन्म के समय तीनों की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। तीनों जगह आन्तरिक विद्रोह का भय था। भारत में साम्प्रदायिक और अन्य प्रतिक्रियावादी तत्त्व असन्तुष्ट थे, चीन में अभी भी राष्ट्रीय चीन से सहानुभूति रखने वाले साम्यवाद-विरोधी लोग थे, पाकिस्तान में पख्तून और अल्पमत हिन्दू शोषित और असन्तुष्ट थे। तीनों देशों को प्रारम्भ से ही अपनी प्रतिरक्षा की भी चिन्ता थी। इन परिस्थितियों की समानता ने तीनों की विदेश नीति के लिए राष्ट्रीय-सुरक्षा और आर्थिक उन्नति के स्वार्थ को आवश्यक बना दिया, परन्तु इतना होते हुए भी तीनों की विदेश नीति एक ही दिशा की ओर विकसित न हुई, क्योंकि इन कुछेक समानताओं से अधिक उनमें असमानताएँ थीं, जिनका उनकी विदेश नीति निर्धारण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

भारत आर्थिक उन्नति के लिए प्रथमतः कृत संकल्प था। उसे प्रतिरक्षा के लिए उतनी अधिक चिन्ता नहीं थी। वह प्रजातन्त्र को सुदृढ़ आर्थिक भित्ति पर खड़ा करके स्थायित्व देना चाहता था, इसके अतिरिक्त उसकी अपनी शक्ति एवं अहिंसा की परम्परा थी। राष्ट्रीय सह-अस्तित्व के विचारों का एक इतिहास था। नेहरू जिन पर गांधी जैसे महान् व्यक्ति का प्रभाव था और जो स्वयं एक आदर्शवादी थे, प्रधान मन्त्री के रूप में देश का नेतृत्व कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में भारत के लिए यह स्वाभाविक था कि वह ऐसी विदेश नीति का श्रोगणेश करे जिससे संसार के राष्ट्रों से अधिक से अधिक आर्थिक सहयोग हो सके, दुनिया के छोटे बड़े सभी देशों में भारत की आदर्शवादी परम्परा एवं सिद्धान्तों की धूम मच जाय और विश्व के छोटे बड़े राज्य इसे एक शान्ति प्रिय, शस्त्रों की दौड़ में भाग न लेने वाला, प्रजातन्त्रीय रीति से आर्थिक उन्नति करने वाला और किसी वाद से न मिला हुआ राष्ट्र समझें। अतः प्रारम्भ से ही भारत-सरकार ने तटस्थ विदेश-नीति का श्रोगणेश किया है और दिनों-दिन इस विचार को एक ठोस और स्पष्ट रूप देती रही है।

चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना तो १९४९ में हो गई, परन्तु चांग काई शेक को अमरीका से भी चीन के विरुद्ध युद्ध कार्यवाही के लिए पूरी सहायता मिल रही थी। चीन की सीमा तक प्रशान्त महासागर में अमरीकी बेड़ा भी ताईवान की मदद के लिए पड़ा ही रहता था। उग्र साम्यवादी राज्य होने के कारण चीन को पश्चिमी पूंजीवादी देशों से सहायता क्या सहानुभूति तक की आशा न थी। ऐसे समय उसके सामने अनेक समस्याएँ थी जैसे (१) एशिया के इस एकमात्र साम्यवादी राज्य के अस्तित्व की रक्षा (२) साम्यवाद के सिद्धान्तों के आधार पर आर्थिक पुनर्निर्माण (३) अपनी प्रतिरक्षा पंक्ति इतनी मजबूत करना कि पूंजीवादी देशों से रक्षा तो हो ही सके साम्यवादी विस्तार नीति पर भी अमल किया जा सके। ऐसी दशा में चीन की विदेश नीति के सामने एक मार्ग था कि वह रूस के साम्यवादी गुट का अभिन्न सदस्य हो जाय। रूस ही उसकी प्रतिरक्षा और आर्थिक उन्नति के लिए सहायक हो सकता था। रूस की विदेश नीति में भी चीन की मित्रता एवं बन्धुत्व का बड़ा महत्त्व था, क्योंकि रूस को दुनिया के सबसे बड़े जनसंख्या वाले देश चीन का साम्यवादी गुट में पूर्ण सहयोग मिला। और पूंजीवादी गुट के विरुद्ध उसका मोर्चा शक्तिशाली हो उठा।

पाकिस्तान के सामने भी कई विकट समस्याएँ थीं, जिनके कारण वह पूंजीवादी गुट में सम्मिलित होने के लिए बाध्य सा था। (१) सर्वप्रथम तो पाकिस्तान अपने ही अस्तित्व के प्रति सशंकित था। उसके राज्य का एक हिस्सा भारत के पूर्व में और एक बड़ा हिस्सा भारत के पश्चिम में था जो सैनिक और प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से बड़ा असुविधाजनक था। दो राष्ट्रों के सिद्धान्त पर मुस्लिम लीग ने जितना के नेतृत्व में पाकिस्तान बना तो लिया, पर यह भारतीय राष्ट्र नेताओं की वास्तविक इच्छा के विरुद्ध किया गया था। पाकिस्तान का जन्म भारत के प्रति घृणा और शत्रुता के आधार पर हुआ था और दूसरी ओर जनसंघ और हिन्दू महासभा जैसी राजनीतिक पार्टियाँ अखंड भारत में विश्वास करती थीं (२) पाकिस्तान अपनी प्रति-रक्षा में पूर्णतः असमर्थ था और भारत के प्रति अविश्वास नीति के कारण वह इसको और भी महत्त्व देता था। (३) पख्तूनियों के गृह विद्रोह का उसे भय था जिन्हें पाकिस्तान में मिलना

पड़ा था। बहुसंख्यक पख्तूनी जो लाल कुर्ती दल के थे उन्होंने विलय के लिए मतदान में भाग नहीं लिया था और प्रारम्भ में ही वे पाकिस्तान में नहीं मिलना चाहते थे। (४) विभाजन में पर्याप्त प्राकृतिक साधन उसे प्राप्त न हो सका, अतः उसकी आर्थिक उन्नति भी एक कठिन समस्या थी (५) सबसे महत्वपूर्ण समस्या काश्मीर की थी। पाकिस्तान हर क्रीमत पर काश्मीर चाहता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ दिन बाद ही कबाइलियों को आड़ में पाकिस्तान ने काश्मीर पर धावा बोल दिया। परन्तु जब काश्मीर नरेश हरिसिंह और वहाँ की राष्ट्रीय पार्टी, नेशनल कांफ़रेन्स ने भारतीय संघ में विलय का एलान किया तो पाकिस्तान के मनसूबों पर पानी फिर गया। भारतीय सेनाओं ने उन्हें तेजी से पीछे ढकेलना शुरू किया और जब एक तिहाई काश्मीर उनके अधिकार में था कि आदर्शवादी प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने उस मामले को सुरक्षा परिषद् को सौंप दिया। इन सभी समस्याओं के लिए आवश्यक था कि पाकिस्तान जल्द से-जल्द पश्चिमी गुट में सम्मिलित होकर अपने को सुरक्षित समझे और काश्मीर पर अपने बुरे इरादों को लाद सके।

विदेशी नीति में कोई न स्थायी मित्र होता है न स्थायी शत्रु। केवल राष्ट्र हित ही शाश्वत मित्र है, और जो इस हित के मार्ग में बाधक हो वह शत्रु है। राजनीतिक और समय के परिवर्तन के साथ-साथ राज्यों की विदेशी नीति में भी परिवर्तन अथवा विकास होता रहता है। विदेश नीति का राष्ट्र पर प्रभाव पड़ता है, उसकी उन्नति और सम्मान पर प्रभाव पड़ता है और राष्ट्र के स्वार्थ एवं हित का समय के परिवर्तन का विदेश नीति पर प्रभाव पड़ता है। इस पृष्ठभूमि में भारत, चीन और पाकिस्तान के विदेश-नीति में हुए परिवर्तनों का एक संक्षिप्त विवरण समीचीन होगा।

भारत की विदेश नीति का दूसरा नाम ही तटस्थ विदेश-नीति है। इसके अन्तर्गत भारत साम्यवादी या पूँजीवादी किसी गुट में सम्मिलित होना हानिकर एवं संसार में शीत युद्ध को बढ़ावा देना मात्र समझता है। इसके अन्तर्गत क्षेत्रीय सैनिक समझौते का विरोध किया जाता है। उस नीति का भारत पर प्रभाव यह पड़ा कि वह अनेक प्रलोभनों के बावजूद सीटो, नाटों या अन्य किसी भी सैनिक समझौते का सदस्य न बना। उसने अपनी भूमि पर अन्य किसी देश का सैनिक अड्डा न बनने दिया। प्रारम्भ में इस तटस्थ विदेश नीति का संसार के बड़े राष्ट्रों द्वारा बड़ा सम्मान मिला, परन्तु आलोचक उस नीति के दो कुप्रभावों का प्रचार करते रहे। (१) तटस्थ विदेशी नीति की प्रकृति नकारात्मक है, गुटनिरपेक्षता के बहाने भारत महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी अपनी नीति स्पष्ट नहीं करता (२) तटस्थ विदेश नीति आदर्शवादी सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित नहीं है वरन् यह उसकी सैनिक कमजोरी का लक्षण है। वह किसी गुट के विरोध को नहीं भेल सकता। (३) तटस्थ विदेशी नीति देश के राष्ट्रीय स्वार्थों के विरुद्ध है। क्योंकि सुरक्षा एवं आर्थिक विकास के लिए कोई भी साम्यवादी देश या पूँजीवादी बड़ा राष्ट्र भारत को खुले दिल से सहायता नहीं कर रहा है। अरबों रुपये जिसे भारत अपनी प्रतिरक्षा में लगा रहा है बच जाते और उसे वह अपनी आर्थिक उन्नति में लगा सकता था। तटस्थ नीति के इन कुप्रभावों से हम पूर्णतया इन्कार नहीं करते। परन्तु इसके लाभ जो भारत को मिले हैं और मिल रहे हैं इतने महत्वपूर्ण हैं कि हम तटस्थ विदेश नीति

को त्यागने की बात अभी नहीं सोच सकते। गुट में रहने से ही यदि कोई एशियाई देश अपनी उन्नति कर लेता तो आज भी पाकिस्तान औद्योगिक दिशा में पिछड़ा न रहता। सुरक्षा भी आज अपने ही आधार एवं साधनों पर हो सकती है। क्योंकि संकट और युद्ध के समय दूसरे के ऊपर अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता। वर्तमान भारत-पाकिस्तान युद्ध में पाकिस्तान को इसीसे धोका उठाना पड़ा। वह सोचता था कि नाटो/सीटो के देश संधि के अनुसार उसकी सहायता अवश्य करेंगे। दूसरी ओर भारत को तटस्थ नीति से अधिक नुकसान नहीं रहा, क्योंकि १९६२ में चीनी आक्रमण के समय अमरीका, इंग्लैण्ड और कई देशों ने सैनिक साज सज्जा के सामान भारत की सहायताार्थ भेजे थे और हर प्रकार की सहायता का वचन दिया था। रूस ने भी तटस्थ देश होने के कारण भारत के विरुद्ध चीन को कोई सैनिक सहायता नहीं दी। जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है वह भी हमें विदेशों से मिल ही रही है; हमारी आवश्यकता के अनुसार यह बहुत कम है, हम मानते हैं। परन्तु इतने बड़े देश की इतनी बड़ी आवश्यकता के लिए किसी नीति को अपना कर आर्थिक सहायता, दान और भिन्ना के ऊपर भरोसा नहीं कर सकते। अतः हमें स्वयं अपने आर्थिक स्रोतों का विकास करना होगा और अपने पैरों पर खड़े होकर उन्नति करनी होगी। यह कार्य कठिन अवश्य है परन्तु यदि हम इससे घबड़ा कर अभी विदेश नीति में परिवर्तन कर लेते तो हाथ भी कुछ न लगेगा और जग हँसाई भी होगी। गोवा-अभियान में संसार ने हमारा पूर्ण नैतिक समर्थन किया था यह हमारी इस नीति का ही परिणाम था।

हमारी तटस्थ नीति अप्रिय, नकारात्मक और कमजोर रही है, इस आलोचना में महान् सत्य है, तभी तो सन् १९६२ में चीन ने और १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण का साहस किया। हमारी तटस्थता की नीति को कमजोरी की नीति मान कर जब चीन ने चढ़ाई की तो हमारी हार का प्रमुख कारण था कि हम देश की प्रतिरक्षा को बिना सजाये-संवारे तटस्थ, स्वतंत्र और आदर्शवादी नीति का पालन कर रहे थे। राष्ट्रीय स्वार्थ में प्रतिरक्षा की समस्या जब हल हो जाय तभी दूसरे स्वार्थों पर ध्यान देना चाहिए। हमने इस नग्न सत्य को समझने में देरी की; इसीलिए चीन के सम्मुख १९६२ के युद्ध में हमें अपमानित होना पड़ा। उस समय हमने तटस्थता की नीति में सक्रियता लाने का प्रयत्न अवश्य किया।

इसके कुछ समय पश्चात् भारत के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। नेहरू के बाद लाल-बहादुर शास्त्री प्रधान मन्त्री हुए। अब स्पष्ट रूप से हमारी विदेश नीति आदर्शवाद के घेरे से निकल कर वास्तविक हितों के घेरे में आयी। नेहरू की विरासत तटस्थ विदेशी नीति का उत्तराधिकारी शास्त्री जी ने स्वीकार किया, परन्तु विएतनाम के मामले में अमरीका को रुष्ट करके उसके अभियान की शास्त्री जी ने निन्दा की। अब भारत रोडेशिया के मामले में भी और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मामले में अपने स्पष्ट मत का प्रकाशन करने लगा है। अब भारतीय विदेश नीति को कोई नकारात्मक और कमजोरी का लक्षण नहीं कह सकता। अब देश का नेतृत्व इन्दिरा गाँधी के हाथों में है और इस नीति को और अधिक प्रभावशाली, सकारात्मक बनाना उनका प्रयत्न होना चाहिए।

चीन की विदेश नीति खुरचेव के पूर्व तक रूस के विचारों से प्रभावित थी। सभी

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वह रूस का सबसे बड़ा समर्थक था। वह साम्यवाद की क्रान्ति में भी क्रेमिलिन का ही नेतृत्व मानता रहा। इसका फल यह हुआ कि चीन को पाश्चात्य और पूँजीवादी देशों से पूर्ण सुरक्षा की गारन्टी ही नहीं मिली, वरन् अपनी प्रतिरक्षा में भी चीन अधिक समर्थ हो गया। उसकी कृषि उद्योग की प्रगति तीव्रगति से होती गई। रूस की प्रेरणा से उसने कोरिया, विएतनाम आदि देशों में विद्रोह कराया और कोरिया के आधे और उत्तरी विएतनाम पर साम्यवादी शासन की स्थापना हो गई। इस प्रकार १९४९ से १९५९ तक चीन की विदेश नीति ने उसके राष्ट्रीय स्वार्थ, सुरक्षा और आर्थिक उन्नति में सहायता दी। इसकी विस्तारवादी नीति को कुछ हद तक सफलता मिलती गई। और अब अन्तर्राष्ट्रीय भेड़िया अपने असली रूप में संसार के सामने प्रकट होना चाहता था। इसी बीच साम्यवादी सिद्धान्तों में रूस के नेता विशेष कर ख्रुश्चेव ने एक उदार व्याख्या करनी प्रारम्भ की। जिस प्रकार सैकड़ों विभिन्न किस्म के फूल एक बाग में रह सकते हैं उसी प्रकार संसार के सैकड़ों देश, विभिन्न विचारों वाले होते हुए भी, सहअस्तित्व के अनुसार शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। साम्यवाद किसी देश पर लादा जाना आवश्यक नहीं है। विश्व क्रान्ति के लिए कोई एक विशेष देश को कृत संकल्प नहीं होना चाहिए, साम्यवादी क्रान्ति बाहर से नहीं देश के अन्दर से प्रस्फुटित होगी। इसीलिए साम्यवादी देशों को विस्तारवादी नीति, घुसपैठ नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय तोड़-फोड़ की नीति को तिलांजलि दे देनी चाहिए। रूस के इन सैद्धान्तिक विचारों का चीन के उग्रवादी साम्यवाद की विचारधारा से कोई तालमेल न बैठता था। ये विश्व-क्रान्ति, हिंसा, अशान्ति, घुसपैठ और तोड़-फोड़ की नीति को साम्यवाद के विस्तार के लिए आवश्यक बताते हैं। अतः इसी समय से रूस चीन का सैद्धान्तिक मतभेद प्रारम्भ हो गया जो दिनों दिन बढ़ता गया। कुछ वर्ष पूर्व जब ख्रुश्चेव और कैंनेडी ने पूँजीवाद और साम्यवाद के सहअस्तित्व को विश्व शान्ति के लिए आवश्यक बताया तो चीन आपे से बाहर हो गया। उसने रूस को पुनरुत्थानवादी, प्रतिक्रियावादी, मार्क्सवाद, के विरुद्ध षडयन्त्रकारी और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के हितों का विरोधी एलान किया। रूस में ख्रुश्चेव के बाद नेतृत्व बदला परन्तु उसके उदारवादी दृष्टिकोण में वृद्धि होती गई। अतः चीन स्वयं संसार में अपने विचारों के अनुकूल साम्यवादी क्रान्ति और विस्तार के लिए प्रयत्नशील है। उसकी विदेशी नीति का यह नया मोड़ है, जिसमें आज वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में साम्यवादी विस्तार का अगुवा बनना चाहता है। अपने भंडे के नीचे दुनिया के साम्यवादियों को संगठित करना चाहता है। सब का ध्यान क्रेमिलिन से खींच कर पेकिंग की तरफ लाना चाहता है। चीन एक कृषि प्रधान देश है और बना रहना चाहता है। वहाँ की जनसंख्या को देखते हुए यह आवश्यक है कि वह अपने उद्योगों की उन्नति, कृषि के पूरक और सहायक के रूप में, प्रतिरक्षात्मक सामग्रियों के लिए और अपने उपभोग की वस्तुओं के लिए ही करता रहे। रूस की मदद से उसने वर्षों पहले ही इस उद्देश्य की पूर्ति कर ली थी। अतः रूसी दृष्टिकोण से ही सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर सोचना अब आवश्यक न था। अतः उसकी वैदेशिक नीति में ख्रुश्चेव के समय से ही एक नया मोड़ आया जो आगे और स्पष्ट होता गया। इस स्वतन्त्र साम्यवादी विदेशी नीति की अपनी कुछ विशेषताएँ थीं जैसे :—(क) संसार के राज्यों में साम्यवाद के चीनी दृष्टिकोण का प्रचार करना और उस

आधार पर कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन, (ख) एशिया और अफ्रीका में नव स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति शून्यता में रूस और अन्य पश्चिमी गुटों के प्रभाव को न आने देकर बाद में स्वयं उसको भरना, (ग) उचित-अनुचित हर तरीकों से साम्यवाद के उग्र सिद्धान्तों का प्रचार। इसमें ध्यान रहे कि विदेशों में स्थित उसके दूतावास पंचमार्गियों और जामूसी का अन्य कार्य करते हैं, (घ) पड़ोस के देशों में घुसपैठ और तोड़-फोड़ की नीति को बढ़ावा देकर अपना क्षेत्र विस्तार करना, (ङ) संसार में अपने को एक महान् शक्ति के रूप में स्थापित करना और यह दिखा देना कि अकेला वही विश्व-शान्ति के लिए खतरनाक हो सकता है। दूसरे संयुक्त-राष्ट्र सी एक संस्था बनाने की बात कह कर, आये दिन दूसरे देशों की राजनीति में हस्तक्षेप करके वह संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता खरीदना चाहता है। जिससे वह इसके सहारे भी अपनी नीति का विस्तार कर सके। (च) पूँजीवादी गुट में फूट डाल कर उसे कमजोर करना भी उसकी विदेशी नीति का एक अंग है। फ्रांस और ब्रिटेन से एक ओर आर्थिक सम्बन्ध बढ़ा रहा है तो दूसरी ओर विएतनाम में विएतकाँग की सहायता करके अमरीका से दुश्मनी बढ़ाये जा रहा है। एशिया में पाकिस्तान ऐसे पश्चिमी गुट के सदस्य को काश्मीर का लालच देकर अपनी ओर मिलाने में काफ़ी हद तक सफल रहा। वह एशिया और अफ्रीका में पश्चिमी गुट के सभी सैनिक प्रतिष्ठानों को उससे अलग कर देना चाहता है।

उसकी इस नई नीति के अनुसार सभी आकांक्षाएँ शुरू में कुछ सफल अवश्य रहीं, पर बाद में एक-एक कर उसको असफलता ही असफलता मिली। उसकी इस नई विदेश नीति का परिणाम उसके हित में नहीं हुआ। क्योंकि पाकिस्तान जो उसका बड़ा मित्र हो गया था वह अन्ततोगत्वा उसका मित्र नहीं रहेगा। पश्चिमी गुट के एक अनुकूल इशारे पर वह पुनः और तेज़ी से उससे जा चिपकेगा। कारण वर्तमान भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान ने यह समझ लिया है कि काश्मीर को युद्ध के द्वारा ले सकना असम्भव है और कूटनीति में चीन का साथ देने से वह संसार के और देशों की सहानुभूति खो बैठेगा। दूसरी ओर इंडोनेशिया में भी उसका मुलौट असली रूप में सामने आ गया है। उस देश के शासन पर अधिकार करने का वहाँ की साम्यवादी पार्टी और चीन का षड्यन्त्र सामने आ गया है। आज इंडोनेशिया जो कुछ महीने पूर्व तक चीन का अभिन्न मित्र था, दूर जा रहा है। विएतनाम में भी अमरीकी सैनिक दक्षिणी विएतनाम की रक्षा के बहाने साम्यवादी विस्तार नीति की अपनी बमबारी और आक्रमणों से अच्छी खबर ले रहे हैं। यही नहीं चीन रूस की सहानुभूति भी दिनोंदिन खोता ही जा रहा है; अब तो यह स्थिति है कि चीन और भारत में पुनः युद्ध हो जाय तो रूस किस करवट बैठेगा चीन स्वयं नहीं जानता। आज १९६२ की स्थिति नहीं है, १९६२ से १९६५ तक चीन ने अपनी विदेश नीति से प्राप्त करने की अपेक्षा खोया ही अधिक है।

पाकिस्तान किन-किन परिस्थितियों से बाध्य होकर पश्चिमी गुट में मिला था यह बताया जा चुका है। वह १९४९ से नाटो और सीटो दोनों सैनिक संगठनों का सदस्य बना, जिसके फलस्वरूप अरबों डालर की सैनिक सामग्री प्राप्त हुई। पाकिस्तान में गिलगिट, पेशावर आदि कई जगह हमराकी सैनिकों के अपने प्रचेष्टणास्त्रों के केन्द्र बने, परन्तु इसका फल यह भी हुआ कि प्रारम्भ से ही पाकिस्तान साम्यवादी गुट विशेषतया रूस से दूर चला गया। आर्थिक

सैनिक और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पाकिस्तान पूर्ण रूप से पश्चिमी गुट के ऊपर निर्भर हो गया। विदेश-नीति को इस हद तक परतन्त्र कर देने के बावजूद भी जब काश्मीर न मिला और भारत के अनाक्रमण-सिद्धान्त पर भरोसा हो गया, या तो उसने पश्चिमी गुट पर ही निर्भर रहने की नीति को अस्वीकार कर दिया। १९५६ से ही पाकिस्तान चीन और भारत के बिगड़ते सम्बन्धों को उत्सुकतापूर्वक देख रहा था और उसने चीन का नैतिक समर्थन करके (१९६२) उसकी सहानुभूति प्राप्त कर ली। अपनी सीमाओं (अधिकृत काश्मीर) का कुछ भाग चीन के हवाले करके चीन और पाकिस्तान के बीच की सीमा रेखा निश्चित हुई। उससे चीन और भी प्रसन्न हुआ। सबसे बड़ी बात यह थी कि भारत अब दोनों का शत्रु था जो चाणक्य नीति के अनुसार मित्र होने के लिए पर्याप्त है। अमरीका को यह सब अच्छा न लगता था, परन्तु वैदेशिक नीति की स्वतंत्रता की आवश्यकता पर बल देकर पाकिस्तान यह सब करता रहा।

१९६५ के प्रारम्भ में पाकिस्तान कच्छ पर अतिक्रमण करके यह जानना चाहता था कि अन्तर्राष्ट्रीय हवा का रुख किस तरफ है। चीन अभी तक उसका मित्र बन चुका था। हाँ उसे अपने पुराने मित्र अमरीका और ब्रिटेन का खतरा था, परन्तु जब कच्छ के मामले में मध्यस्थता के बहाने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन ने पाकिस्तान का पक्ष लिया और कच्छ की लड़ाई में अमरीकी हथियारों के प्रयोग के बावजूद भी अमरीका ने कुछ भी न कहा, तो इसे पाकिस्तान ने अपने भविष्य के सैनिक अभियान के लिए हरी झंडी समझा। काश्मीर के मामले में उसका धैर्य छूट रहा था भारत आन्तरिक समस्याओं में उलझा हुआ था और अपनी आर्थिक उन्नति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में व्यस्त था। उसने कश्मीर में हज़ारों की संख्या में शिक्षित पाकिस्तानी घुस पैठरी भेजने शुरू कर दिये और ५ अगस्त १९६५ को घुस पैठियों की भारी भीड़ काश्मीर में आयी। उसके पश्चात् पाकिस्तान की रेगुलर आर्मी ने भी सितम्बर के प्रारम्भ में छम्ब क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। भारत के सामने अब पूरी शक्ति से प्रतिरोध करने के सिवा अन्य कोई मार्ग न था। भारत की इस हिम्मत और अभियान को पाकिस्तानियों ने न सोचा था। उसकी विदेश नीति की यह गणना इतनी गलत सिद्ध हुई कि पाकिस्तान को लेने के देने पड़ गये। चीन बन्दर घुड़की के समान तीन-तीन दिन की दो चुनौतियाँ देने के सिवा और कुछ न कर पाया। इस बार अमरीका और इंग्लैंड भी पाकिस्तान के अभियान को अधिक गहराई से देखने को बाध्य हुए, क्योंकि उसकी साठ-गाँठ साम्यवादी चीन से हो चुकी थी। अतः इन देशों ने सहायता की कौी कहे प्रत्यक्ष सहानुभूति तक नहीं दिखायी और नाटो सीटो के देशों की निर्देश दिया कि पाकिस्तान को कोई हथियार न दिये जायँ। पाकिस्तान को रूस से कोई सहायता और सहानुभूति के मिलने की आशा तो थी ही नहीं। इस युद्ध के प्रारम्भ के पूर्व कच्छ समस्या तक पाकिस्तान की विदेश नीति की सफलता का चरम सोपान हम मान सकते हैं तथा पाकिस्तान भारत युद्ध और उसके पश्चात् जिस तेज़ी से पाकिस्तान को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान और राष्ट्रीय स्वार्थों का अहित हुआ है, वह आँका नहीं जा सकता। कश्मीर उससे दूर चला ही गया। उसकी प्रतिरक्षा और आर्थिक उन्नति की समस्याएँ फिर वहीं पहुँच गई जहाँ से उसने प्रारम्भ किया था।

भारत ने अपनी विदेशी नीति में आदर्शवाद के सिद्धान्तों का बहुत हद तक पालन
क. ख. ग—११

करने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि राष्ट्रीय स्वार्थों में सुरक्षा नहीं आर्थिक उन्नति पर प्रथम ध्यान दिया गया, जिसका दुःखद परिणाम चीन के आक्रमण के समय उसे झेलना पड़ा। तब राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए पूर्ण सैनिक तैयारी न थी; जल्द ही उसने अपनी सैनिक तैयारी में पूर्णता लाने के लिए कार्यवाही शुरू कर दी। परन्तु अभी भी आर्थिक विकास के पहलू को उसने गौण न होने दिया ! आज पाकिस्तान और चीन के सम्मिलित आक्रमण के भय ने और अधिक सुदृढ़ प्रतिरक्षा की माँग की है। इसकी तैयारी भी वह आर्थिक उन्नति के अवरोध के मूल्य पर नहीं करना चाहता। यह आदर्शवादिता संसार के सामने अच्छा उदाहरण है। उसने विदेशी नीति में दो ऐसे सिद्धान्त दिये हैं जिसे सम्पूर्ण संसार मानता है।

सह-अस्तित्व :—इसके अन्तर्गत भारत की मान्यता है कि संसार के शान्ति का एक मात्र मार्ग, राष्ट्रों में सह-अस्तित्व को मान्यता देना है। छोटे-बड़े साम्यवादी और पूँजीवादी, सभी राष्ट्र जब तक इस सिद्धान्त को नहीं मानते तब तक विश्व में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। भारत स्वयं चीन और पाकिस्तान से भी राष्ट्रीय सम्मान और समानता के आधार पर अपनी समस्याएँ हल करने को हमेशा प्रस्तुत रहता है। भूल से भी भारतीय सरकार ने कभी पाकिस्तान के अस्तित्व को समाप्त करने की बात नहीं कही है, नेहरू और फिर शास्त्री का यह बार-बार कहना सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को बढ़ावा देना है। रूस और अमरीका ऐसे बड़े और विरोधी वादों के नेता भी आज सह-अस्तित्व में ही विश्वास करते हैं। यह भारत की विदेशी नीति के आदर्शवादी पक्ष की महान् विजय है। (२) पंचशील:—इसकी पाँच बातें हैं। १—राष्ट्रों में पारस्परिक सम्प्रभुता एवं क्षेत्रीय सम्मान की भावना हो, २—अनाक्रमण, ३—किसी राज्य के आन्तरिक मामले में अहस्तक्षेप, ४—राष्ट्रों में समानता और पारस्परिक लाभ के लिए सहयोग ५—सह-अस्तित्व।

रूस की मदद से भारत-पाकिस्तान के बीच ताशकन्द समझौता (११ जनवरी १९६६) भी भारत की शान्ति एवं आदर्शवादी विदेश नीति का ही परिणाम है। इसमें ५ अगस्त की रेखा तक वापस आने की बात हमारे स्वार्थों के विरुद्ध है। फिर भी इसकी पूर्ण सफलता और असफलता भविष्य ही बतायेगा। अभी तो 'शास्त्री जी की अन्तिम देन' के रूप में इसका सर्वत्र स्वागत किया जा रहा है, परन्तु कहीं यह हमारी कमजोरी का प्रतीक न बन जाय।

पंचशील के सिद्धान्तों की सबसे पहले १९५४ में चीन ने सम्पुष्टि की, १९५५ के बांदुंग सम्मेलन में सभी एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों ने और १९५७ में यू० एन० ओ० ने इसका अनुमोदन किया। इस प्रकार पाकिस्तान ने भी इसमें अपनी स्वीकृति दी थी। परन्तु चीन ने १९६२ में और १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण करके इस सिद्धान्त की जड़ों पर आघात किया। अपनी विदेश-नीति में अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के हल के लिए समर्थ ये राज्य आदर्शवादी सिद्धान्तों की कभी भी परवाह न करेंगे, यह स्पष्ट है। आदर्शवादी सिद्धान्तों का इनके छोटे और बड़े स्वार्थों के सामने कोई महत्व नहीं होता। हाल के भारत-पाकिस्तान और कुछ वर्ष पहले के भारत-चीन युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है।

प्रत्येक देश अपनी वैदेशिक नीति के संचालन और विदेशों में इसके प्रचार के लिए

अनेक एजेन्सियों का प्रयोग करते हैं।

१—विदेश मन्त्रालय—इसमें विदेश मन्त्री और उसका पूरा सचिवालय विदेशों में स्थित राजदूत, उच्चायुक्त और कूटनीतिज्ञ तथा इनके कार्यालय आते हैं।

२—सन्देश प्रसार साधन :—इसमें शक्तिशाली ट्रान्समीटर युक्त रेडियो स्टेशन, समाचार पत्र, बेतार के तार, टेलीफोन आते हैं।

३—मित्र राष्ट्र के सन्देशवाहन के साधन, और विदेशों में उनके दूतावास भी इस सन्दर्भ में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

४—इन एजेन्सियों की सफलता और असफलता को कसौटी संकट काल ही है, वैसे इनका समुचित संचालन और प्रयोग सभी दशा में आवश्यक है। विदेश मन्त्रालय के अधीन विदेशों में स्थित भारतीय दूतावास हमारी विदेश-नीति से, साधारण और संकट दोनों कालों में, विदेशी सरकारों और वहाँ की जनता को प्रभावित करने में असफल रहे हैं। कुछेक लोग भारतीय तटस्थ विदेश-नीति में अस्पष्टता को इसका दोषी मानते हैं, परन्तु यह दोष विदेश-नीति का उतना न था जितना इन दूतावासों के सम्बन्धित कर्मचारियों की विलासिता और अकर्मण्यता का। वे विदेशी चकाचौंध और आनन्द में इतना डूब जाते हैं कि अपने देश के मिशन की ही भूल जाते हैं। इस दृष्टि से पाकिस्तान और चीन के दूतावास अधिक सफल रहे हैं। विगत भारत-पाक युद्ध के समय प्रारम्भिक और अल्पकालिक सफलताएँ जो हमारे शत्रुओं को मिलीं उसका मुख्य कारण था कि उनकी विदेश-नीति की एजेन्सियाँ अधिक सक्रिय एवं कुशल थीं।

सन्देश वाहन के साधनों में अभी तक कोई ऐसा शक्तिशाली रेडियो स्टेशन नहीं है, जिसकी खबरें एशिया और अफ्रीका तक में सुनाई दें; पूरे संसार की कोई बात ही नहीं। यह प्रचार का युग है और अपनी गलत बात भी सही रूप में दूसरों को बता कर और शत्रु की सही बात को सबसे तोड़-मरोड़ कर अपने हित में यदि प्रचारित कर दिया जाय तो विदेशों में सही पक्ष के विरुद्ध भी भ्रम फैल सकता है। पेरिंग का ट्रान्समीटर बहुत शक्तिशाली है और इसका फायदा उठाता रहता है। पाकिस्तान का रेडियो स्टेशन भारत से अधिक शक्तिशाली है। बेतार के तार से सीधा सम्पर्क अभी भारत प्रमुख देशों तक से नहीं कर सका है। टेली-वीजन भी हमारे यहाँ बहुतों के लिए नुमाइश की चीज है। 'इन बातों में चीन और पाकिस्तान भी पिछड़ा हुआ है' यह सोच कर भारत इनके महत्त्व को घटा नहीं सकता। इन्हीं उपायों से संकट के समय अपनी बात मित्र राष्ट्रों तक पहुँचायी जा सकती है। शत्रु तो शत्रु है ही मित्र राष्ट्र और तटस्थ राष्ट्र भी सही और तत्काल सन्देश के अभाव में कुछ समय के लिए गलत समझ बैठे थे। भारत-पाक युद्ध के समय इस कमजोरी को भारतीय सरकार को स्वीकार करना पड़ा है। पाकिस्तान ने अपने वैदेशिक नीति के योग्य एजेन्सियों और मित्र चीन के ऐसे ही साधनों की मदद से कुछ समय के लिए भारत को विश्व राजनीति में तनहा कर दिया था और पश्चिमी गुट के सम्मुख उसे दोषी रूप में उपस्थित कर दिया था। बाद के दिनों में स्थिति स्पष्ट हो गई और पाकिस्तान का नक्काब उतर गया, उसके भूटे प्रचार गलत सिद्ध हुए। परन्तु उस अल्पकालिक कूटनीतिक हार को सरकार महत्त्वहीन नहीं कर सकती। हमारी

विदेश नीति की एजेन्सियों की पोल खुल गई। युद्ध विराम के पश्चात् भी अपनी विदेश-नीति के स्पष्टीकरण के लिए काश्मीर पर भारतीय दृष्टिकोण बताने के लिए भारत सरकार को अफ्रीका, एशिया, सेन्ट्रल योरोप, अमरीका, रूस प्रत्येक जगह विशेष दूत या शिष्ट मंडल भेजने पड़े।

हमारी विदेशी नीति ने अभी तक शायद मित्र और शत्रु के सही भेद को नहीं समझा था, क्योंकि विगत पाक-भारत युद्ध के समय हमने कराँची में स्थित ब्रिटिश दूतावास और उसके सन्देश वाहन के साधनों का जो थोड़ा बहुत प्रयोग किया वह भी लाभदायक सिद्ध न हुआ। इस महाभारत में वह महाशकुनी का पार्ट अदा कर रहा था। और जो कुछ तत्त्व उसके द्वारा ब्रिटेन पहुँच रहे थे वे पाकिस्तान के पक्ष में ही होते थे। बी० बी० सी० की खबरों की निष्पत्ति का इस युद्ध के समय पर्दाफाश हो गया। ईरान, तुर्की, ब्रिटेन, अमरीका, अनेक देशों के समाचार पत्रों, रेडियो आदि में भी पाकिस्तान के इस भूठे प्रचार के पूर्व उसकी अच्छी साख थी।

अपनी विदेश नीति के सर्वेक्षण के पश्चात् इस निष्कर्ष पर आते हैं कि हमारी तटस्थ नीति थोड़ी बहुत कमियों के बावजूद भी अभी तक सफल रही है। क्योंकि पाकिस्तान और चीन की वैदेशिक नीति ने उसे तात्कालिक थोड़ी बहुत सफलता अवश्य दी हो, परन्तु भारत के विरुद्ध उनके लक्ष्यों की पूर्ति उनकी विदेश नीति न कर सकी। पूरे संसार में आज फिर भारत की तटस्थ नीति की धाक जमती जा रही है, क्योंकि उस बार युद्ध में वह निश्चित रूप से विजेता रहा है, और दूरगामी तथा अधिकतर फायदे भारत को ही हुए हैं। हाँ भारत ने यह अवश्य महसूस किया कि उसे अपनी प्रतिरक्षा पंक्ति की (प्रतिरक्षा सेना की तीनों शाखाओं की) इस हद तक उन्नति करनी होगी कि वह चीन, पाकिस्तान या अन्य किसी ऐसे शत्रु के सम्मिलित आक्रमण तक से अपनी संप्रभुता और क्षेत्रीय सम्मान की रक्षा कर सके।

हमारी संस्कृति के कुछ आधारभूत सत्य

(अनेकता में एकता से लेकर सह अस्तित्व तक का पर्यवेक्षण)

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रायः लोग भारतीय संस्कृति की बात करते हैं और वेदों उपनिषदों की दुहाई दे कर यह सिद्ध करने को चेष्टा करते हैं कि हमारी संस्कृति में वे समस्त तत्त्व विद्यमान हैं जिन्हें पाश्चात्य दर्शन चिन्तन से लेकर सांस्कृतिक प्रारूपों में अपनाने की चेष्टा की गयी है। जवाहर लाल नेहरू ऐसे चिन्तक नहीं हैं, फिर भी वह भारतीय जीवन दर्शन और चिन्तन की व्याख्या करते समय इस बात को सदैव सिद्ध करना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति विश्व की महान् संस्कृति रही है। लेकिन जब उन्हीं से यह प्रश्न पूछा जाता है कि इस संस्कृति की महानता किस चीज में, किन माध्यमों में व्यक्त हुई है तो शायद उनके पास सिवा समन्वय और अनेकता में एकता देखने के और कहीं भी दृष्टि नहीं है। लेकिन आज जो मूल समस्या है वह यह है कि क्या यह अनेकता में एकता की बात सत्य है। क्या यह सत्य नहीं है कि बिना किसी प्रकार के बाह्य आरोपित एकता के हमारी संस्कृति की विविधता (ध्यान रहे अनेकता नहीं) ही हमारी उपलब्धि है? क्या आचार, पाखण्ड और व्यवहार की अनेकता में हम एकता ढूँढ़ते हैं और मूल भूत मानव संवेदना में निहित विविधता को प्रचुरता को अनावश्यक रूप से एकता ढूँढ़ने के बलात् प्रयास में खो देते हैं? क्या यह संभव नहीं है कि हमारे देश ने कभी इस अनावश्यक एकता पर ध्यान न देकर केवल आत्मोपलब्धि के सत्यों को अधिक मूल्यवान माना हो?

जब इन प्रश्नों के साथ हम एक बार भारतीय संस्कृति की प्रचुरता को देखते हैं और दूसरो ओर जवाहरलाल नेहरू की 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में यह पढ़ते हैं कि—
"Was there some such well of strength? And if so did it dry up or did it have hidden springs to replenish it? What of to day? Are there any springs still functioning from which we can refresh ourselves?" तो लगता है हमारी पुरानी पीढ़ी टैगोर से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक यही प्रश्न पूछती है। उन्हें जैसे भारत की एकता के बगैर चैन ही नहीं है—वह इस विविधता को गौण मानते हैं और उसके अतिरिक्त यह चाहते हैं कि कोई ऐसा एक स्रोत उन्हें मिले जो उन्हें तरोताजा बनाये रखे। मेरे ख्याल से यह खोज पूर्णतयः अभारतीय रही है। भारतीय पुनर्जागरण चूँकि पश्चिम से प्रभावित रहा है, इसलिए हमारे देश के जितने भी चिन्तक हुये उन्होंने अपनी जिज्ञासा

मात्रों के लिये उस सूत्र को ढूँढ़ना चाहा जिससे वह समस्त देश की विविधता को एक सूत्र में बाँध कर प्रस्तुत कर सकें। इसकी आवश्यकता ही विदेशी थी और भारतीय वातावरण से उसका सामंजस्य कभी भी नहीं बैठा। गाँधी और अरविन्द को छोड़कर हमारे देश में जितने भी चिन्तक रहे वह सदैव इसी अनेकता की एकता ढूँढ़ने में व्यस्त रहे। उन्होंने देश की मूल प्रकृति और हमारी संस्कृति की जड़ की पहचाना ही नहीं।

भारत के चिन्तक कभी इस आकारात्मक एकता के लिये परेशान ही नहीं हुये। वह तात्त्विक एकता सर्व व्यापी रूप में देखते थे इसलिये उन्हें इस आकारात्मक एकता की कभी जिज्ञासा ही नहीं हुई। वे आत्मोपलब्धियों को महत्व देते थे। विचारों की विविधता में वे वैसे ही रसते बसते थे जैसे कोई हरे भरे उपवन में अनेक फूलों के बीच विविधता और सम्पूर्णता को भोगता है। दूसरे शब्दों में हमारी संस्कृति का स्वर विविधता और सम्पूर्णता का स्वर रहा है अनेकता में एकता का नहीं।

ऊपर से देखने में हो सकता है यह लगे कि विविधता और सम्पूर्णता को जबर्दस्ती अनेकता और एकता के विरुद्ध लाकर खड़ा किया गया है किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि जब हम विविधता और संपूर्णता कहते हैं तो हम अपनी उस प्रकृति पर बल देते हैं जो सर्वग्राही होते हुए भी प्रत्येक वैयक्तिक एवम् सांस्कृतिक उपलब्धि को उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का साक्षात्कार करती है जबकि अनेकता में एकता की बात एक कृत्रिम प्रयास के रूप में उल्टी नदी तैरने जैसा लगता है। वस्तुतः दोनों दृष्टियों में दो विभिन्न अभिरुचियों की झलक हमें मिलती है। अनेकता में एकता ढूँढ़ने की प्रवृत्ति में संकीर्ण अभिरुचि है क्योंकि वह विपुलता से ऊब जाता है और तब चेष्टा यह करता है कि विपुलता में जो भिन्नता दीख पड़ती है उससे बचकर वह उस स्रोत को पकड़े जहाँ से यह विपुलता अपनी विविधता के साथ जन्मती है। इसीलिए विविधता और संपूर्णता में जिस समग्रता का बोध होता है वह अनेकता की एकता में नहीं है। अनेकता में एकता ढूँढ़ने वाले की दृष्टि में नेति-नेति से अस्ति की स्वोक्तति है जबकि विविधता एवम् संपूर्णता में अस्ति-अस्ति के माध्यम से संपूर्ण समग्रता को आतंकहीन होकर भोगने की माँग है।

प्रत्येक संस्कृति की महानता दो चीजों से निर्धारित होती है। पहली रचना एक अन्वेषण शक्ति और दूसरी भोगने का सामर्थ्य। रचना और अन्वेषण के माध्यम से हम हर प्रकार की सीमाओं का विनाश करते हैं—विशेष करके ऐसी सीमायें जो मानसिक एवम् भौतिक दोनों की उपलब्धियों अथवा समग्रता को खण्डित करती हैं। इसीलिए जहाँ कहीं भी संस्कृति पर विचार किया जाता है वहाँ हथियार, मशीन, कल पुर्जे भी उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण होते हैं जितने कि विचारों का विकास। ऐसा इसलिये है कि यंत्र से हम प्राकृतिक अथवा भौतिक उपलब्धियों के मार्ग में जो रुकावटें होती हैं उन पर विजय पाते हैं और इसी प्रकार वैयक्तिक आन्दोलनों का भी उल्लेख करते हैं क्योंकि विचारों के विकास के साथ हम मानसिक बंधनों पर तो विजय पाते हैं। दोनों ही अनुभूतियों के क्षेत्र को व्यापक बनाने में सहायक होते हैं, इसी लिये इन दोनों का, अर्थात् रचना और अन्वेषण दोनों ही सम्पृक्त होते हैं। संस्कृति में समग्रता आती भी तभी है जब हम इस रचना और अन्वेषण के माध्यम से विभूति को अंगीकार करते

है। संस्कृति के अर्थ ही होते हैं संस्कार बढ होना और संस्कार बढ होने में भौतिक धरातल पर यंत्रों का बहुत बड़ा महत्व है। जितने जटिल यंत्रों के प्रयोग करने में हम सक्षम होते हैं उतने ही अधिक सुसंस्कृत हम माने जाते हैं। आदिमवासियों की अपेक्षा हम अधिक सुसंस्कृत हैं क्योंकि हम उनकी अपेक्षा अधिक जटिल यंत्रों का संचालन करते हैं और अधिक जटिल यंत्रों के संभालने से हमारी रचना एवम् अन्वेषण शक्ति भी उतनी ही जटिल होती जाती है।

लेकिन मात्र भौतिक यंत्रों का विवेकहीन होकर चलाने वाला नितान्त सुसंस्कृत नहीं हो सकता। उसका दूसरा पक्ष भी विकसित होना चाहिये अथवा उसका मानसिक धरातल भी उतना ही सबल और सशक्त होना चाहिये। तभी हमारा यांत्रिक आचरण भी विवेकवान होगा। यहीं विचारों का महत्व बढ़ जाता है। यन्त्र यदि हमें भौतिक सीमाओं पर विजयी होने में सहायक होते हैं तो विचार हमें बौद्धिक एवम् मूल्यों के स्तर पर पूर्ण बनाते हैं। लेकिन जब मानसिक धरातल की हम बात करते हैं तो जो चित्र हमारे सामने आता है वह सतत जागरूक मानव चेतना का है जो यंत्रों को तो सार्थकता देता ही है साथ ही जीवन को भी सार्थक होकर जीने की प्रेरणा देता है। यदि यंत्रों की जटिलता (Complexity) से हम प्रकृति पर विजय पाते हैं तो जटिल विचारों (Complex ideas) के माध्यम से हम अधिक सार्थक जीवन जी सकने में सहायक होते हैं। जैसे यंत्रों की विपुलता हमारे उद्योगों को विविध और समग्र बना कर हमारी पूर्णता का परिचायक है उसी प्रकार विचारों की विविधता भी हमें समग्र तो बनाती है साथ ही वहीं वह हमें सम्पूर्णता भी प्रदान करती है। जैसे उद्यान में अनेक रंग-बिरंगे फूल खिले होते हैं और वे मिलकर विविधता और सम्पूर्णता का परिचय देते हैं और उससे प्रेरित होकर हम फूलों के नामों से किसी प्रतिनिधि फूल का नाम न लेकर पूरे उपवन की समग्रता का अनुभव करते हैं ठीक उसी प्रकार संस्कृति में भी समस्त फूलों के आदि स्रोत अथवा उसके एसेन्स को महत्व देकर उसकी समग्रता को अधिक महत्व देते हैं। जिस संस्कृति में विविधता की दुर्दशा करके उसके एसेन्स को ग्रहण करने पर बल दिया जाता है वहाँ विकृतियाँ आने लगती हैं। विकृतियाँ आती भी इसलिए हैं क्योंकि उसको वहन करने में हम तटस्थ दृष्टा, भोक्ता या सहभोगी न होकर एक भावुकता में डूबा हुआ मन और जबर्दस्ती चीड़ फाड़कर प्रत्येक सौन्दर्य या सृजन का अन्वेषण कर विचार को एक मेलोड्रामा के रूप में ग्रहण करते हैं और बार-बार यह कहते हैं कि हम इतनी विपुलता, विविधता, सम्पूर्णता की दृष्टि से नहीं देख सकते हम तो यह सारा स्वमानित नियोजन (Self Composed) के माध्यम से नहीं अपने उद्देश्य द्वारा नियोजित माध्यम से देखना चाहते हैं। यही कारण है कि टैगोर या जवाहरलाल नेहरू या डा० भगवानदास जैसे चिंतक विचारक और कवि हमेशा इस विविधता में स्वजनित नियोजन द्वारा सारगर्भित संपूर्णता और समग्रता को नहीं देख पाते। जवाहरलाल तो भारत के जन जीवन की इस विविधता को देखकर इतना अधिक समग्रता से नहीं प्रभावित होते, जितना कि “एसेन्शेल यूनिटी” से! यह एसेन्शेल यूनिटी भी वह भावना के स्तर पर अनुभव करते हैं। यह एकता उनका रागात्मक बोध बनकर विकसित होती है और वह कह पड़ते हैं—“The unity of India was no longer merely intellectual conception for me, it was an emotional experience which overpowered

me. I” स्पष्ट है कि जवाहरलाल विविधता को तटस्थ होकर नहीं ग्रहण कर पाये और अपने युग-बोध के अनुसार वे उस मेलोड्रामा के भागी हो गये जो केवल एक तार में बन्धे हुये माले को पसंद करता है किन्तु क्यारियों में लदे फूलों की विभिन्नता एवम् विविधता के सूक्ष्म आत्मानुशासन और मूल संयोजन को अर्थ नहीं दे पाता। वस्तुतः इसे मैं उनका दोष नहीं मानता क्योंकि नेहरू जिस युग की देन हैं वह युग ही मेलोड्रामा का युग था, दिवा स्वप्नों का युग था और इसलिये जब वह बार-बार भारत को पुनः खोजने की चेष्टा करते हैं तो इस प्रयास में मेलोड्रामेटिक हो जाते हैं। और मेलोड्रामा की अक्षमता भोग से जन्मती है और भोग संस्कृति की दूसरी शर्त है जो रचना और अन्वेषण, यंत्र और विचार को संतुलित करके मानवीय बनाती है।

यहीं पर हमें दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। जिस भारतीय एकता का जवाहरलाल अनुभव करते हैं उसके आधारभूत तत्त्वों में तीन बातें स्पष्ट रूप से मिलती हैं, पहली बात तो यह कि उनकी एकता “Intellectual Conception” न होकर “Emotional Experience” है। यह भावात्मक या रागात्मक अनुभूति उन्हें आक्रान्त (Overpower) कर देती है। समग्रता, सम्पन्नता और विविधता में सम्पूर्णता को भोगने की दृष्टि मूलतः बौद्धिक प्रक्रिया है। समग्रता सम्पन्नता में आक्रान्त करने की क्षमता न होकर विवेकजन्य सन्तुलन ढूँढ़ने की चेष्टा होती है इसीलिये वह जो संतुलन देखता है वह कभी आक्रान्त नहीं होता है। आक्रान्त होना मेलोड्रामा का द्योतक है। इसीलिये जब मैं कहता हूँ कि हमारी पुरानी पीढ़ी का आचार विचार मेलोड्रामेटिक था तो मेरा आशय प्रस्तुत बौद्धिक धारणा “Intellectual Conception” की जगह पर “रागात्मक अनुभूति” और उसके ऐश्वर्य के प्रताड़ित होने पर है। चाहे वह जवाहरलाल हों या टैगोर या डा० भगवानदास उनकी दृष्टि युग-बोध के आधार पर भारतीय संस्कृति में निहित बौद्धिक धारणाओं पर नहीं रही इसीलिये नेहरू को भारत को बार-बार पुनः खोजने की प्रेरणा मिलती थी। वह यह चाहते थे कि जो कुछ भारतीय जीवन में दिख रहा है उसे छोड़कर एक ऐसा आधार ढूँढ़ें जहाँ हम अपनी विविधता को छोड़ कर एक मंच पर एक सा चेहरा लगा कर खड़े हों। इसी का परिणाम यह था कि जब नेहरू भारत को पुनः खोज रहे थे, तब टैगोर कबीर के रहस्यवाद और बाऊल सन्यासियों के दर्शन जीवन का अन्वेषण कर रहे थे और डाक्टर भगवानदास संसार के विभिन्न धर्मों में व्याप्त उस एकता को ढूँढ़ रहे थे जो गीता, कुरान, बाइबिल आदि को एक केन्द्र बिन्दु पर ला कर रख सके और यह सब इसीलिये बौद्धिक धारणा से छूट कर केवल “रागात्मक अनुभूति” के ऐश्वर्य तक ही सीमित रह गया था। बार-बार जो चीज़ चूक जाती थी वह थी विवेक की सगति, सन्तुलन की दृष्टि, समग्रता का बोध, सम्पूर्णता का भोग और विविधता का महत्व। जिस आधुनिकता से प्रभावित होकर राजा राममोहन राय ने भारतीय जीवन की विविधता का मूल्य भारतीय दर्शन से छीन लेना चाहा था और एक प्रकार के उत्तुसर्ग शताब्दी के यूरोपीय व्यक्तिवाद के उच्छिष्ट से प्रभावित होकर उन्होंने एक नये प्रकार की एकता की बात चलाई थी, उसकी परिणति ठीक उसी प्रकार में टैगोर, नेहरू और डाक्टर भगवानदास की चिन्तन धारा में व्यक्त हुई है। टैगोर कवि थे इसलिये उनके हाथ

अपना "Emotional Experiene" कला के रूप में अच्छा लगता है किन्तु नेहरू और भगवान-दास के साथ जब वह बौद्धिक धारणा के रूप में यह दिखता है तब उसका अधूरापन स्पष्ट हो जाता है। प्रायः पुनरोत्थान का सम्पूर्ण आन्दोलन एक प्रकार की अतिरंजित भावुकता से ओत-प्रोत होता है। काव्य, चित्रकला और अन्य कला रूपों में यह अतिरंजना तो खप जाती है किन्तु बौद्धिक स्तर पर जब इसका प्रयोग होता है तो यह खोखली और अपरिपूर्ण लगने लगती है। जवाहरलाल नेहरू की बौद्धिकता और उनका विशाल मानववाद इसी अर्थ में अतिरंजित मानववाद है जो जब यथार्थ की टकराहट में आता है तो खोखला पड़ जाता है।

१७७४ से भारतीय विचारधारा के मुख्य रूप को यदि हम देखें तो कम से कम स्वतंत्रता प्राप्ति तक यह देश भयानक भावानुभूतियों से गुजरा है। १८२८ में पाश्चात्य व्यक्तिवाद के साथ-साथ एक प्रकार के समूहवाद से प्रभावित राजाराममोहन राय का व्यक्तित्व सहसा इतिहास के रंगमंच पर आता है जो उपनिषदों के विश्ववाद और योरोप के व्यक्तिवाद के बीच एक एकता स्थापित करके भारतीय जीवन की समग्रता की अपेक्षा एकता ग्रहण करने की ओर बढ़ता सा लगता है। राजा राममोहन राय के पूरे व्यक्तित्व के अध्ययन से जो बात निकलती है वह है (Urgency) तात्कालिकता और आधुनिकता के साथ एक सांस में यूरोप की व्यक्तिवादी विचारधारा एवम् क्रिश्चियन भाव भंगिमा को भारत में अवतरित कर लेना। राजा राममोहन राय उन प्रमुख भारतीयों में से हैं जिन्हें एक ओर ईसाई धर्म का मानववाद और उसके नैतिक सिद्धान्तों ने अत्यन्त प्रभावित किया था किन्तु दूसरी ओर वे उपनिषदों के गहन दार्शनिकों तत्त्वों से भी ओत प्रोत थे। भारतीय पुनर्जागरण का पूरा इतिहास यहीं से दो पृथक विचार पद्धतियों में विकसित होता है। राजा राममोहन राय सारी हिन्दू अथवा भारतीय विचारधारा को जल्दी से जल्दी यूरोप के सामाजिक और सांस्कृतिक स्तरों की विचार धारा से सम्बद्ध कर देना चाहते थे और जो कुछ बाईबिल का मानववाद था उसे उपनिषदों के माध्यम से सिद्ध करके समस्त भारतीय विचार धारा को नितान्त आधुनिक संदर्भ में प्रयुक्त करना चाहते थे। उनकी बेचैनी एक मात्र भारत को तुरत आधुनिक बना देना था। वे सर्व प्रथम भारतीय चिन्तन धारा को उन समस्त तत्त्वों से आभूषित कर देना चाहते थे और आधुनिक बनने में वह इतने जल्दी में थे कि सत्य को ढूँढ़ने के बजाय उन्होंने सर्वधर्मों और संस्कृतियों का मूल मानव के रूप में एक साथ लाकर खड़ा किया। इसीलिये उनका आग्रह पाश्चात्य चिन्तन और भारतीय चिन्तन में एकता स्थापित करने का था और यह एकता का मोह कितनी दूर तक हमारे जीवन में रहा है इसको भारतीय पुनर्जागरण के साथ स्पष्टतः देखा जा सकता है।

ब्रह्मो समाज—जिसकी स्थापना १८२८ में हुई उसका मूल वैयक्तिक आधार इसी अनेकता में एकता ढूँढ़ने की प्रवृत्ति पर केन्द्रित हो गया। राजा राममोहन राय के बाद महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर, केशव चन्द्र सेन और अन्त में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसी विचार को प्रश्रय दिया। यद्यपि यह सही है कि एकता की खोज राजा राममोहन राय में थी उसमें मानव एकता की बात थी किन्तु जिस मानव एकता की वह बात करते थे वह पाश्चात्य चिन्तन धारा और योरोप में विकसित उपयोगितावाद से भी प्रभावित थी। इसीलिये वह बार-बार अपने क ख ग—११

भारतीय दर्शन को फिर से खोजना चाहते थे। उपनिषदों के सुत्रों की पुनः व्याख्या करना चाहते थे और उस व्याख्या में ही उन तत्त्वों को ढूँढ़ने की चेष्टा करना चाहते थे जो पाश्चात्य जीवन पद्धति के निकटतम ला सके। इसीलिये ब्रह्मो समाज के उद्देश्यों में उन्होंने न अपनी और न युरोप की विविधता का उचित मूल्यांकन किया वरन् यह घोषणा की कि ब्रह्मो समाज मूलतः मानव मात्र का समाज है। उसमें धर्म जाति आदि का कोई बन्धन नहीं है। यहाँ पर भी जो बात मूल रूप में उस समय उनकी विचार धारा में प्रमुख थी वह इस तथ्य पर आधारित थी कि वह मूलभूत एकता का पात्र 'मानव मात्र' ही हो सकता है। केवल यही एकता है जो निर्विवाद रूप से स्थापित की जा सकती है।

युरोप के लिये इस अनेकता में एक ढूँढ़ने की विवशता का कारण बहुत कुछ उन धर्म युद्धों की पृष्ठ भूमि थी, जिसमें एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से लड़ते-लड़ते थक चुका था। हत्याओं और रक्त पातों के बीच उनकी समझ में उस एकता को ढूँढ़ना अधिक मूल्यवान् था जो एक वृहत इसाई धर्म के अन्तर्गत इसाईयों को समेट सकता। भारत को धर्म युद्धों की विभीषिका का कोई अनुभव नहीं था। यहाँ धर्म सामाजिक व्यवस्था हावी होने के बावजूद भी व्यक्ति सापेक्ष था। ज्यादा से ज्यादा लड़ाइयाँ शास्त्रार्थ के स्तर की तत्त्व विवेचन (Metaphysical) थीं और वह केवल विचार भेद होकर समाप्त हो जाती थीं। दूसरे शब्दों में भारत में धार्मिक सहिष्णुता और वैयक्तिक स्वातंत्र्य की मूलभूत सत्ता पहले ही स्वीकार कर ली गई थी। शैव और वैष्णव, शाक्त और नास्तिकों और वेदान्तियों और भक्त मार्गियों में और सब कुछ हो सकता था लेकिन किसी भी स्तर पर राज्य सत्ता का आश्रय लेकर रक्तपात या धर्मयुद्ध नहीं हो सकता था। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो विविधता भारत में कहीं और से लाकर कलम के रूप में लगाई नहीं गई थी। वरन् वह यहाँ की धर्म दृष्टि के आधार पर स्वतः विकसित हुई थी। जहाँ युरोप और पाश्चात्य देश में एकता को स्थापित करने की आवश्यकता थी वहीं भारत में विविधता उसकी मिट्टी से मिली थी। यही कारण था कि वह अन्य संस्कृतियों से ग्रहण करने में अथवा अपनी संस्कृति से दूसरे को कुछ भी देने में संकीर्ण नहीं रही है।

बौद्धिक और वैयक्तिक स्तर पर यदि हम देखें तो हमें यह और भी स्पष्ट रूप में दीख पड़ेगा। हमारे यहाँ के षड् दर्शनों में तात्त्विक ज्ञान को पद्धतियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। यही नहीं एक दूसरे की विरोधी भी हैं। न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग आदि जहाँ अपने में पूर्ण हैं वहीं दूसरे मत का खण्डन भी करते हैं। सब को मिलाकर यदि देखें तो हमें भारतीय चिन्तन की सम्पन्नता इसी विविधता में दीख पड़ती है। यह विविधता विरूपता की द्योतक न होकर एक समग्रता और सम्पन्नता की द्योतक दीख पड़ती है। यही हमारे चिन्तन और विचार को वह जटिलता भी प्रदान करती है जिसके कारण हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का गौरव है। मनुष्य के आदिम समाज में सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यतायें सरलतम होती हैं। उनके आदेश निर्देश भी सरल ही होते हैं। विकल्प की स्वतंत्रता कम से कम होती है। व्यवहार और आचरण की स्वतंत्रता भी एक संकीर्ण हितवादी दृष्टि की शिकार होती है। हित की परिभाषा और मान्यता नितान्त स्थूल होती है। हज़रत मूसा के दस आदेश (टेन कमाण्ड-

मेन्ट्स) यह स्पष्ट बतलाते हैं कि समाज के समस्त मूल्य एक परिधि में ही सीमित करके देखे जाते हैं और वह परिधि वह समाज है कि जिसके प्रतिनिधि हज़रत मूसा थे । इसीलिये स्वयम् मूसा भी अपने आदेश को अग्र्य मानकर यह कहते हैं कि उनके बाद एक खुदा का बेटा आयेगा जो ईश्वर के आदेशों को और भी व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित करेगा अर्थात् जो समाज की बढ़ती हुई जटिलताओं की सापेक्षता में एक नया अर्थ बोध और नया जीवन दर्शन दे सकेगा ।

भारतीय चिन्तन इस दृष्टि से काफी पृथक् रहा है । जीवन के आचरण और व्यवहार की संहितायें बहुत बाद में बनीं और दर्शन शास्त्र उन संहिताओं के बहुत पहले । उपनिषदों की रचना पहले हो गई और मनुस्मृति या याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ बहुत बाद में बनीं । इसका एक मात्र कारण यह था कि हमारा समाज एक विभिन्न प्रकार का समाज था । जिसकी आधार शिला आश्रम संस्कृति थी । समाज का आचरण उस ज्ञान से जन्मता था जो ऋषिकुलों में जो संस्कार बनते थे वही हमारे जीवन का नियंत्रण करते थे । ये आश्रम देश के विभिन्न भागों में होते थे और इनकी स्वतंत्रता अखण्ड थी इसलिये व्यापक स्तर पर समान होते हुये जीवन दृष्टि के स्तर पर वह भिन्न भी होती थी । एक ही सत्य के विभिन्न आयामों की जीवन के विविध रूपों में स्वीकार करने की प्रवृत्ति अधिक थी । यह रूप बाह्य नहीं अन्तर्दृष्टि से विकसित होते थे । वृहस्पति, चार्वाक जहाँ भौतिक जीवन दृष्टि से तुष्ट थे वहाँ यहाँ की संस्कृति में यह भी संभव था कि शक्राचार्य जैसा ऋषि असुरों का पक्ष लेकर उन्हें देवताओं के विरुद्ध खड़ा करे । च्यवन ऋषि की नितान्त काम भोग की कथा या विश्वामित्र की बार-बार तपस्या खण्डित करके पुनः साधना रत होना या परशुराम की कथा भारतीय संस्कृति और जीवन पद्धति को जहाँ एक ओर विविधता प्रदान करती है वही बौद्ध वज्रयानियों की जीवन पद्धति या तंत्रियों की तंत्र साधना या सहजिया वैष्णवों की गुह्य साधना को यों ही कृत्रिम कह कर भी टाला नहीं जा सकता । ये सबके सब हमारी जीवन दृष्टि की विविधता और अनेकता के साथ उस स्वतंत्र वातावरण का भी संकेत देती हैं जो हमारे जीवन का मूल स्रोत रहा है । कहने का सारांश यह कि विकल्प की क्षमता जो किसी भी संस्कृति की मूल कसौटी है वह समस्त जटिलताओं के बावजूद हमारी संस्कृति का अंग रही है । साथ ही इस विकल्प में स्वच्छन्दता की अपेक्षा आत्म विश्वास और आत्म संयम का भी योग रहा है । इन समस्त विरोधाभासों से एक एकांगी दृष्टि न मिलकर सम्पूर्णता की दृष्टि मिलती है जो अनेकता की अपेक्षा विविधता, और विरोधाभास की अपेक्षा सम्पूर्णता का परिचय देती है ।

१८ वीं शताब्दी तक इसे विविधता के रूप में ही स्वीकार किया गया था । केवल अकबर ने सोलहवीं शताब्दी में इस विविधता के स्थान पर एकता लाने की चेष्टा की थी और दीने इलाही को ऊपर से लाद कर एक प्रकार के नये धर्म को बिना आश्रम संस्कृति के आन्तरिक गठन को समझे एकरूपता देने का विफल प्रयास किया था । उसके चिन्तन में दोष नहीं था क्योंकि वह जिस संस्कृति में पला-पनपा था उसके आधार में “वाहिद खुदा” और इसलाम धर्म थे । जिसमें हर चीज़ को एक परिभाषा में बाँध कर रक्खा गया था और किसी भी प्रतिष्ठित मूल्य के प्रति शंका या जिज्ञासा को ही गुनाह बता दिया गया था । इसीलिये उसकी समझ में विविधता का अर्थ नहीं आता था और इतनी सशक्त विविधता में वह बार-बार अने-

कता देखता था और एकता स्थापित करना चाहता था। वह यह भूल गया था कि वह जिस एकता की खोज कर रहा है वह एक भिन्न जीवन पद्धति से उद्भूत है और जिस अनेकता की विविधता से वह आर्तकित होता था वह सर्वथा भिन्न आश्रम संस्कृति से उद्भूत हुई है। जिसमें प्रकृति की महानता और व्यापकता को उसकी समग्रता के रूप में स्वीकार किया गया था, मनुष्य को आत्मानभूति को ही ईश्वर माना गया था और व्यक्तिगत उपलब्धि को ही मोक्ष का साधन।

और तब जब कभी भी भारतीय संस्कृति को उसकी मूल आश्रम संस्कृति से हटा कर देखेंगे तो हमें विविधता अनेकता के रूप में और समग्रता विरोधाभास के रूप में दिखेगी। ऐसा लगेगा कि यह सारा सब कुछ केवल एक अव्यवस्थित विरोधों का जंगल है जिसमें से कोई एक सार तत्त्व नहीं निकाला जा सकता। और तब यह प्रश्न उठता है कि अकबर, या राजाराम मोहन राय या डाक्टर भगवानदास या डा० राधाकृष्णन या रवीन्द्रनाथ टैगोर जिस एकता की जिज्ञासा करते हैं या जिसे बार-बार स्थापित करना चाहते हैं वह स्थापित क्यों नहीं होती? जिस संस्कृति में चोरों के भी देवता कार्तिकेय हैं और शास्त्रों में चौर्य शास्त्र भी है, एक ओर गीता का दार्शनिक तत्त्व है तो दूसरी ओर वात्स्यायन का काम सूत्र भी है उसका स्पष्टीकरण करके रागात्मक अनुभूति Emotional Experience के स्तर पर एकता के नाम से आह्वान करना एक नहीं अनेक खतरों को मोल लेना है।

इस दृष्टि से जब मैं पूरी सांस्कृतिक दृष्टि को आधुनिक परिस्थिति में देखता हूँ तो लगता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से जो राष्ट्रीय भावना और उसके साथ जल्द-से-जल्द आधुनिक होने की आकांक्षा हमारे मन में उठी उसने अपने आतेसाहसिक उमंग और आवेश में विविधता में व्याप्त सम्पूर्णता, समग्रता और सम्पन्नता पर ध्यान नहीं दिया वरन् एक प्रकार के स्पष्टीकरण की नीति को अपना कर एवं जल्दी से आधुनिक बन जाने के रास्ते का अनुसरण किया। हम यह भूल गये कि यह विविधता का ही परिणाम था कि ईरान में विकसित सूफी मत को मंझन, कुतबन और जायसी ने नितान्त भारतीय रूप में जहाँ एक ओर हिन्दी काव्य को सम्पन्न बनाया है वहीं हमारे देश के वातावरण और आश्रम संस्कृति के विकास में एक नयी कड़ी जोड़ी है। यही नहीं जिस उपनिषद् की आरण्यक संस्कृति में जीव और तत्त्व का विवेचन किया गया है उसी का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्फुटन अनेक रूप में व्यक्त होकर एक नये प्रकार की विविधता को जन्म देता है।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि विविधता के प्रति हमारी कोई सार्थक दृष्टि नहीं बन पाई। फलतः इस एकता की खोज में जिस प्रकार की नकारात्मक दृष्टि हमारी बनी उसमें हमने सत्य को खण्डित रूप में देखना शुरू किया। सम्पूर्ण रूप से हम कतराने लगे। इस बच बचाव के वातावरण में जो चीज हमसे सहसा छूट गई वह थी यथार्थ को भोगने का संकल्प। दृष्टि भ्रम होने से उपलब्धियों में भी विकृति आ जाती है। हमारी संस्कृति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि इसे कोई भी ऐसा चिन्तक या विचारक नहीं मिला जो उसकी समग्रता को देख कर उसकी सम्पूर्णता के प्रति एक उचित भोग की दृष्टि दे सकता। जैसा मैंने ऊपर कहा है संस्कृति पूर्ण और समग्र होने का प्रयास है—चाहे वह यन्त्रों के माध्यम से प्रकृति की

विपुलता को ग्रहण करने की बात हो अथवा विचारों के माध्यम से मानसिक स्तर पर नये विचारसूत्रों में व्यक्त जीवन दर्शन की बात हो। संस्कृति मूलतः इस भोग की दृष्टि से हो विकसित और सार्थक होती है ! वस्तुतः जीवन भोग की ही वस्तु है और उस भोग के साथ सम्बद्ध हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही समग्र हो सकता है।

किन्तु हमारे जीवन का सबसे बड़ा व्यंग्य यह रहा है कि भोग को या तो गलत संदर्भ में रख कर प्रस्तुत किया गया है या उसके विकृत अर्थ को ही अधिक प्रश्रय मिला है। भोग की सार्थक स्थिति और उसकी संवेदना को हमने कभी उस रूप में नहीं स्वीकारा जिस रूप में हमें जीवन की पूर्णता का अनुभव हो सके। हमारे देश के दार्शनिकों ने उसे केवल कर्म से जोड़कर उसकी विवशता तो प्रदर्शित कर दी है किन्तु उसके सृजनात्मक पक्ष अथवा उस भोग से अभिरुचि की विशिष्टता के प्रश्न पर अधिक बल नहीं दिया है। इसीलिए कर्म भी काफ़ी अंश तक पूर्वनिश्चित संस्कार के रूप में या विवेकहीनता के रूप में रूढ़ि बन गया। ऐसा हुआ इसलिये क्योंकि हमारे दर्शन शास्त्र से लेकर साहित्य, कला, सौन्दर्य तत्त्व में वर्गीकरण और विवेचन की प्रवृत्ति अधिक मिलेगी, उस विवेचन में समर्थन और विवाद भी मिल जायगा किन्तु संतुलन नहीं मिलेगा। मेरा अपना विचार है कि हमारी पिछली पीढ़ी को जब इन समस्त वर्गीकरणों को एकत्र करने की आवश्यकता हुई तो वह इसकी विपुलता को समग्रता का रूप देने के बजाय एकता के रूप में प्रस्तुत करने में अधिक योगशील हो उठे। शायद इसलिये भी कि उस समय की उनके युग की यह माँग थी कि वह सम्पूर्ण संस्कृति की सम्पन्नता के स्वाभाविक तत्त्व को, विविधता की व्यापकता को केवल एकता के माध्यम से व्यक्त करें। ऐसा इसलिये भी था क्योंकि वह युग ही त्याग का युग था और त्याग का तर्क ही अभिरुचि की विपुलता पर नहीं उसकी एकता पर आधारित होता है। विपुलता तो भोग-दर्शन में ही विकसित हो सकती है। अभिरुचि की सम्पन्नता भी उसी के माध्यम से व्यक्त होती है। अभिरुचियों के विभिन्न तत्त्वों को स्वीकार करना और प्रत्येक अभिरुचि को उसके वस्तु सत्य के साथ स्वीकार करना अनेकता में एकता ढूँढ़ने की दृष्टि की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य और संभावना की माँग करती है। आदिम मानव की अभिरुचि सीमित रही होगी क्योंकि उसके पास यंत्रों की कमी से लेकर उत्पादन के सभी माध्यम सीमित रहे होंगे। वह किसी भी जटिल माध्यम को वहन करने में असमर्थ भी है इसलिये वह प्रकृति की समग्रता को भोगने में असमर्थ होने के नाते उसकी न्यूनता को भोगना अधिक श्रेयस्कर समझता है।

(क्रमशः)

परम्परा और आज का कवि

विद्यानिवास मिश्र

परम्परा शब्द का व्यवहार इतने गलत अर्थों में हो चुका है कि परम्परा के सही अर्थ से आज के कवि को जोड़ने की बात ही व्यर्थ हो जाती है, जब तक कि उन गलत अर्थों का पहले प्रत्याख्यान न कर दिया जाय। परम्परा रूढ़ि नहीं है, यह बात तो बार-बार दुहरायी जाती है, पर रूढ़ि का दायरा प्रायः बहुत संकुचित मान लिया जाता है। साहित्य के सन्दर्भ में यह दायरा वस्तुतः संकुचित नहीं है। साहित्य का माध्यम भाषा स्वयं उस अंश तक रूढ़िसापेक्ष है जिस अंश तक उसे सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्ध से काम लेने की विवशता है। भाषा का माध्यम दूसरे कलामाध्यमों से इसी माने में अधिक कठिनाई प्रस्तुत करता है। हर नया अनुभव शब्दार्थ की पकड़ में आते ही छटपटाने लगता है, पर साथ ही लाचारी यह भी है कि चाहे जो भी अनुभव हो, वह सब से अधिक समय और वास्तविक अभिव्यक्ति भाषा में ही पाता है। 'कहौ बिनु रहौ न परत, कहे राम रस न रहत'। भाषा में शब्द बदलते हैं, अर्थ भी बदलते हैं, पर उनके बीच सम्बन्ध हमेशा पूर्वसिद्धता की अपेक्षा रखते हैं। क्योंकि भाषा समुदाय से अर्जित ऐसा संस्कार है, जिस को ग्रहण करने वाले भले ही व्यक्ति हैं, पर वे व्यक्ति उसे समान रूप से ग्रहण करते हैं, वे भाषा की सम्पत्ति के बराबरी के सन्तोषी हैं। अर्थ ग्रहण में अन्तर अभिधेय वस्तुजगत् या अनुभव जगत् के ज्ञान में कमी-बेशी होने से नहीं आता, अन्तर आता है भाषागत शब्द के प्रयोग और उसके अनुसार विभिन्न अर्थ-प्रत्ययों के विस्तार में कमी-बेशी होने से। कवि इस विस्तार को जिस मात्रा में ग्रहण करता है उसी मात्रा में वह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सिद्ध रखते हुए भी शब्द और अर्थ में अलग-अलग प्रकार से वैशिष्ट्य ला पाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वह सिद्ध से सम्भावित शब्दार्थ प्रत्ययों का अन्वेषण भी अधिक सामर्थ्यपूर्वक कर सकता है। वह रूढ़ि का प्रत्याख्यान न करते हुए उससे आगे जाता है, पर कभी भी उसका अर्थ उसके शब्द से असंबद्ध नहीं रहता। साक्षात् सम्बद्ध न हो, यह दूसरी बात है। इसीलिए साहित्यशास्त्र ने अप्रसिद्ध लाक्षणिक अर्थ के प्रस्तुतीकरण को लक्षणों का अतिचार माना है, इसे नेयार्थ दोष के रूप में ही स्थान दिया है। व्यंजना वृत्ति को भी अर्थान्वेषण के लिए स्वीकार करते हुए भी उसे ऐन्द्रिय या मानस प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं माना गया, उसे शब्द व्यापार के अन्तर्गत ही माना है और उसे भाषागत वक्तृबोद्धव्य आदि शर्तों के अधीन रखा है। अतिरिक्त शर्त के रूप में प्रतिमा जरूर रखी गयी, यह प्रतिमा शब्दार्थ समर्पित अनुभव की प्रखरता छोड़ कर कुछ नहीं और इसी को कवि और सहृदय की संयोजक कड़ी के रूप में स्वीकार किया गया।

इस सिद्धान्त के विस्तार में न जाकर बात यहीं समाप्त की जाये कि काव्य अपने माध्यम की सिद्धता और अपर्याप्तता दोनों से बंधा हुआ है। अपर्याप्तता का बोध ही आधुनिकता है, यह बोध जितना ही जाग्रत होता है, उतना ही सिद्धता के सम्पूर्ण आयाम की नये सिरों से पैमाइश होती है और पिछली सिद्धताएँ नयी सिद्धता की सम्भावनाओं को इस प्रक्रिया में 'नवं नवं जायमाना' हो कर जन्म देती हैं। आज का हिन्दी कवि भक्त कवि की आराध्य-निष्ठा में सहमार्गी भले न हो सका हो, उसकी अतृप्ति का साभोदार जरूर है। वह सिद्ध का तिरस्कार नहीं करता, जैसा कि छायावादी कवियों ने जानबूझ कर किया या जैसा कि सिद्ध कवियों ने उनसे भी बहुत पहले किया था, वह सिद्ध को तिरस्कार नहीं मानता। इतना ही नहीं वह सिद्ध को उसकी समग्रता में स्थापित करके उसे सहज रूप में काव्यग्राह्य बनाता है। आज के कवि ने इसी लिए आँखें खोल कर अत्यन्त परिचित और बिल्कुल घरेलू सन्दर्भों में शब्द अर्थ को स्थापित किया है। शब्द-अर्थ के सम्बन्धों का यह नैकट्य रोजमर्रा की भाषा से, उसके नैकट्य से ही आया है। लोक भाषा और उसके साहित्य, बच्चों की भाषा और उनके साहित्य, शहरी भाषा की सिलवटों और तकनीकी भाषा की एकांगिता, इन सबसे उसने अपनी भाषा-सामर्थ्य को निखारा है। उसने जोखिम भी उठाये हैं, अनगढ़पन के, अनावश्यक शोखी के और अपने ही कृतित्व की नश्वरता के और इस जोखिम उठाने का फल है—

कितने सही हैं ये गुलाब
कुछ कसे हुए और कुछ भरने-भरने को
और हल्की सी हवा में और भी जोखम से
निखर गया है उनका रूप जो भरने को है

(रघुवीरसहाय)

आज का कवि भक्त कवि की तरह हो भाषा के परिचित अर्थ को ही विस्तार देता है, वह अपरिचित से परिचय नहीं जोड़ता। इस माने में वह रूढ़ि का न तो मात्र निर्वाह करता है न ही उसका प्रत्याख्यान। वह अभिव्यक्ति में परम्परा को जन्म नहीं देता, परम्परा में अभिव्यक्ति को जन्म देता है और इस सीमा तक वह भाषा के सिद्ध रूप को सहज रूप में ग्रहण करके आगे बढ़ने वाला यथार्थवादी है। रूढ़िवादी या आग्रहपूर्वक नूतनतावादी दोनों में से एक भी नहीं। वैसे तमाशा और तमाशाई बनने का चाव किसी भी बसन्त की प्रक्रिया में स्वाभाविक है, रंगों के साथ बेरहमी और साजों के बेमानी मेल भी कुछ हद तक दुर्निवार है, पर बसन्त के ये खतरे कवि मोल नहीं लेगा तो कौन लेगा ?

परम्परा के बारे में दूसरा भ्रम है कि इतिहास और परम्परा एक हैं। वात्स्यायन ने एकाधिक बार यह दुहराया है कि इतिहास और परम्परा में अभिन्न सम्बन्ध रहने पर भी परम्परा इतिहास अथवा घटनाक्रम नहीं है, वह घटनाक्रम से मिलने वाला जातिगत अनुभव है—अनुभव ही नहीं बल्कि उस अनुभव का जीवित स्पन्दन जो जाति को प्रेरित करता है। १९५६ के अपने इस वक्तव्य से और आगे जा कर वे कहते हैं कि इतिहास से मुक्ति हमारी परम्परा की सबसे बड़ी देन है। मैं इतिहास की चेतना को एक बहुमूल्य और उपयोगी चेतना तो मानता हूँ, पर उसे पारमार्थिक या एकमात्र मूल्यनिर्धारक चेतना के रूप में नहीं

मानता, इसका कारण शायद हमारी परम्परा की वह समृद्धि हो जो मानव नियति को किसी दायित्व या प्रतिशोध से बिना बांधे उसे केवल माँजती आयी है। ऐतिहासिक और पारम्परिक दृष्टि में मुख्य अन्तर यह है कि एक कालक्रम और देशक्रम से बँधी है, दूसरी क्रम के पौर्वापर्य को बहुत कम महत्त्व देती है, वह महत्त्व देती है आगे जाने की सम्भावना को। उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत रामायण का पूर्ववर्ती काव्य है, पर पारम्परिक दृष्टि से रामायण आदिकाव्य है। गुणवान् को स्थापित करके ही गुण की प्रतिष्ठा है। रामायण का केन्द्र धर्मो है, महाभारत का धर्म, उसमें आगे जाने की सम्भावना है, इसी-लिए वह रामायण की परम्परा का ऐसा प्रतिफलन है जो व्यक्त तो तिथिक्रम में पहले हुआ पर स्वभावतः है परिणामी स्थिति का बोधक। निराला की कविता 'सीधी राह मुझे चलने दो' या मुक्तिबोध की कविता :

मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं
आज भी नवीन प्रेरणा यहाँ न भर सकी
न जी सकी परन्तु वह न डर सकी....

अपनी समसामयिक कविता से निश्चित रूप में आगे है। परम्परा में विगत कुछ नहीं अनागत कुछ नहीं, जो कुछ है वह प्रत्युत्पन्न है, सत् है, वह सत् से, वर्तमान से प्रमाणित है। परम्परा में साहस है कि कह सके—

विगत शत पुण्य का आभास
जंगलो हरी कच्ची गन्ध में बस कर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके सी लगी रहती।

(मुक्तिबोध)

परम्परा जानी नहीं, जानी जाती हुई विगत श्रेष्ठता को स्वीकार करती है। वह मृत्यु से नहीं घबराती, इसीलिए वह बैताल बन कर बार-बार पहली बुझाने के लिए कंधे पर सवार नहीं होती। इतिहास ठीक इसके विपरीत एक आक्रान्त करने वाली चेतना है। इन्म खल्लून हों, टायनबी हों, वे इतिहास की अपनी सीमित चेतना के ही कारण विश्व से अपनी दृष्टि संयोजित करके मजहबी मताग्रह से अपने को मुक्त नहीं कर पाते, अपने मुक्ति के निर्धारित रास्ते से अपने को मुक्त नहीं कर पाते। पश्चिमी जीवन दर्शन में कालबद्ध चेतना के रूप में अस्ति इसीलिए या तो आतंक की छटपटाहट बन कर रह गया है या एक चक्र का अविच्छेद्य पुर्जा मात्र रह गया है। हमारा यह सौभाग्य है कि हमारी सांस्कृतिक चेतना पारम्परिक रही है। वह इतिहासातीत रही है। वह विचारों के नहीं आचारों के अनुशासन पर बल देती रही है। इतिहास ने हमें झुकभोरा है। ऐतिहासिक चेतना ने मूल्यांकन का एक और द्वार खोला है। पर उसने अनुक्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में कुछ नये विवेचन या मान चाहे प्रस्तुत किये हों, वैदुषिक चिन्तन को भ्रम में डाला हो, कुछ नये ऊंट के पीछे दौड़ने वाला को चमत्कृत भी

किया हो पर वह आज भी हमारी सर्जना की मूल प्रेरणा नहीं है। आज का समर्थ कवि जैसा कि मैंने अन्यत्र ('टाइम इन माडर्न हिन्दी पौड्री' शीर्षक लेख में) प्रतिपादित किया है सीधी रेखा में जीवन को प्रगति को महत्त्व नहीं देता, वह कालबद्ध अस्तित्व की चेतना को अनुभव की चरम उपलब्धि नहीं मानता, वह अपने देश के ऐतिहासिक नामों को नाम भर मानता है, देश के आदर्शों को उनके ऊपर प्रतिष्ठापित करने पर बल देता है। वह आज भी नेतृकेन्द्रित न होकर नयनकेन्द्रित है, वह शंखबलयाकार आरोही गतिचक्रों में जीवन को आगे ले जाने में विश्वास करता है, वह इसमें जीवन का प्रामाण्य नहीं मानता कि कितना आगे वह चला है, बल्कि इसमें कि उसके चलने से कितनी दूसरों की सम्भावना जन्मी है—

फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा

मेरे अनजाने अनपहचाने

अपने ही मनमाने

अंकुर उपजाती है

बस उतना मैं खेत हूँ।

(अज्ञेय)

वह ऐतिहासिक चिन्तन से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता था, इसलिए प्रभावित हुआ है, पर उसका सांवत्सरिक संस्कार, उसका ऋतुबोध, उसका कालचक्र बोध इतना दृढ़ है कि ऐतिहासिक चिन्तन से प्राप्त आशंकाओं से अवगत तो वह है, पर वह भयभीत नहीं है, वह ठहरे हुए काल के प्रभाव को देखता खरूर है—

यद्यपि मेरे लिए

हवा ने अपने केश उतरवा लिये हैं

फूलों ने रंगीन कपड़े पहनने छोड़ दिये हैं

निर्भर अरगनी पर पड़ो सफ़ेद धोतियों से ढंगे हैं

और नदियाँ सिलवट पड़े मैले बिस्तरों सी बिछी हैं

सूरज किसी बन्द स्कूल के घंटे सा लटका है

चाँद आकाश की भोल में

रात भर तैरते-तैरते थक कर

मरे हुए हिरन सा उतरा आया है,

चिड़ियाँ मिट्टी की हैं

गाती नहीं टूट जाती हैं

पेड़ों को झुकझोरने पर भी

पत्तियाँ नहीं मिलतीं।

(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)।

फिर भी वह जागने का, आगे बढ़ने का, साहस का, जिन्दगी का एक गीत गाना चाहता है। हिन्दी का आधुनिक कवि जिस क्षण को महत्त्व देता है, वह खंडनीय या विच्छिन्न नहीं है, वह सनातन है, उसका क्षण-क्षण है, क्षणिक नहीं, वह ऐतिहासिक प्रक्रिया नहीं प्रक्रिया का ख ग—११

से गुजर कर नये प्राण पाने वाला सर्जक है—
भीतर ही भीतर भरे पत्तों के साथ गलता
और जोर होता रहता है
नये प्राण पाता है....

यह जरूर है कि भाषा का, अनुभवों का, देश का, नयी वास्तविकताओं का एक ज़ब-दस्त व्यवधान है जो हमें सतह पर सांस्कृतिक परम्परा से विलग करता रहता है, पर यह पुरइन का सीमाहीन प्रसार ऊपर-ही-ऊपर है। हमारा पानी इससे विलग है। परम्परा भावित होने के ही कारण हम देश की बात करते समय भौगोलिक या नस्ली सीमाओं को बात नहीं करते, हम ऐसे विचार प्रवाह की बात करते हैं जिसे कोई भी हमसे बैठा सकता है। यह अशेष उदारभाव स्वाधीनता के पूर्व आत्माभिमानी था, स्वाधीनता के बाद लज्जित है, शायद इसी माने में आधुनिकता कुंठा के रूप में नजर आती है। आज का कवि भारत वन्दना यदि खुले कंठ से नहीं कर पाता तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह अभारतीय है, वह अपने को भारतीय प्रमाणित करने के लिए यह तरीका ही उपहसनीय मानता है। भारतीयता शब्द से नहीं आचरण से प्रमाणित होती है, वह आचरण सत्य के साहस से अनुशासित हो तभी सही आचरण है। और यहीं विघटन की बात आती है।

यहीं परम्परा शब्द का विघटनशील मूल्यों के सन्दर्भ में गलत प्रयोग किया जाता है। इसी गलती से परम्परा और प्रगति को एक दूसरे का विरोधी मान लिया जाता है। लोग भारत के सन्दर्भ में बात करते समय प्रायः परम्परा को या तो शानदार विरासत के रूप में देखते हैं, भारत की सम्पत्ति उसकी अध्यात्म है या उसे एक म्रियमाण मूल्य के रूप में, भारत का पारम्परिक समाज आधुनिक प्रगति में एकमात्र बाधा है। वे भूल जाते हैं कि हमारी परम्परा विज्ञान से सबसे अधिक संगत है, क्योंकि वह वस्तु या भौतिक जगत् को, मानव शरीर को, राष्ट्र को, बाह्य आचार को हेय नहीं मानती, वह साधन को साध्य से भिन्न नहीं मानती। उसकी दृष्टि निरी आध्यात्मिक नहीं है, यही उसकी शक्ति है। आध्यात्मिक उसका एक सापेक्ष मूल्य है, 'गोकामा वयं ब्रह्मविदो नमस्कुर्म' याज्ञवल्क्य को यह घोषणा भौतिकवादी घोषणा नहीं जिजीविषा की घोषणा है। हमारी पारम्परिक दृष्टि ही अनुभव के विरोध को धरातलों के पार्थक्य के आधार पर अविरोध प्रमाणित कर सकती है। भारती का यह वक्तव्य कि 'मध्ययुग ने कालप्रवाह को मिथ्या माना था, आधुनिक युग ऐसा कोई मानसिक पलायन नहीं करना चाहता, लेकिन वह इस प्रवाह में विवश बहना भी नहीं चाहता, वह बाह्य परिवेश को, संसार को मिथ्या नहीं मानता, लेकिन उसे अपना स्वामी भी नहीं मानता' भारतीय परम्परा पर लागू नहीं है। कम से-कम भारतीय कला या काव्य पर तो कतई नहीं। भक्तों के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण भी सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।

विघटन की बात मैं नहीं मानता कि हमारी परम्परा के इस सन्दर्भ में सार्थक है। हाँ, परम्परा के नाम पर बहुत से ऐसे मूल्य हैं जिनमें विघटन हो रहा है, इसलिए कि पहले ही से उसमें विघटन हो रहा था, समाज-व्यवस्था का ढाँचा कभी भी स्थायी नहीं रहा है, स्थायी रहा

है मूल्य का एक ऐसा तारतम्य बोध, जिसमें रोजी के लिए दूसरों की चाकरी से अपने पौरुष का, अपने पौरुष से दूसरों के भरण का, दूसरों के भरण से पूर्ण स्वाधीनता का और पूर्ण स्वाधीनता से दूसरों के दुःख का स्वेच्छापूर्वक वरण का मान उत्तरोत्तर ऊँचा माना जाता रहा है। बराबर व्यापक मानवीयता के नये मान की आड़ी रेखायें सामाजिक भेद की खड़ी रेखाओं को काटती रही हैं। इसी प्रकार कछुआ धर्म को, कवच धर्म को निरन्तर सत्य के अन्वेषण ने भीतर से बेधा है, ज्ञानचक्षु से देखने पर निरन्तर धर्मशास्त्रों में बल दिया गया है, निरन्तर त्याग को ही सबसे ऊँचा मान दिया गया है। भारतीय दृष्टि में जो अविद्या है, वह पहले अपेक्षित है, क्योंकि उसी से मृत्यु का सन्तरण होता है और उसी के द्वारा इस सन्तरण के बाद विद्या की सहायता से अमृत का अशन सम्भव हो पाता है। जहाँ तक नैतिक मूल्यों के विघटन की बात है, उसकी सम्भावना उसकी सापेक्षता में निहित मानी गयी है। पश्चिम के कुछ विचारक हमारी पूरी जीवनदृष्टि को ही निनैतिकता मानकर निनैतिकता का शलत अर्थ लगाते हैं, वे यह विश्वास ही नहीं कर सकते कि यह निनैतिकता समता के विषम सूत्रों से उद्भूत नहीं हुई है, यह उद्भूत हुई है

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्यमयीचिन्ते

की तादात्म्य बुद्धि से। यह छुंछी नैतिकता को भरने वाली निरपेक्ष नैतिक मूल्य दृष्टि है।

अन्त में उद्योगीकरण और नागरीकरण के अपरिहार्य प्रभाव के रूप में मूल्यविघटन की बात की जाती है, मैं मानता हूँ कि आधुनिकीकरण स्वेच्छा से हो या दबाव से एक कृत्रिम प्रक्रिया है उसका कोई भी स्थायी प्रभाव मूल्यबोध पर नहीं होता, जहाँ ये अवस्था उत्कर्ष के बिन्दु तक पहुँच गयी है, वहाँ भी नहीं है। हमारे यहाँ दिख रहा है, उसका कारण हमारी अपरिपक्वता है, हमारी निजी पहचान की कमी है, हमारी आधुनिकता की कमी है, यदि आधुनिकता का अर्थ संस्कारवान् होने का संकल्प है। आज के संस्काराकाँक्षी कवि पर इस कृत्रिम विघटन का प्रभाव उद्वेग के रूप में चाहे हो, अपने लिए स्वीकार्य धर्म के रूप में कभी नहीं है। परम्परा सार्थक ही इसीलिए है कि आज का कवि उसे जी रहा है और जीवन को आस्वादनीय ही नहीं, सम्भावनीय भी बना रहा है।

आत्म पीड़न की कविता

नवल

बहुत नीचे तक
अंधेरे की ठण्डक काँपती है
ऐसा क्या हुआ है
कि हाथ उठ तो गये हैं
पर लगता है
कहीं तारों से जड़ गये हैं।

दृष्टिकोण

हमारी आर्थिक समस्याओं का एक हल

राष्ट्रीय नेता वे लोग होने चाहिए जिनके विचार स्पष्ट हों, जिनमें राजनीतिक योग्यता हो और आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के प्रति गहन निष्ठा रखते हों, जो सिर्फ़ उन उद्देश्यों की सराहना ही न करें बल्कि उन्हें इस कुशलता से कार्यान्वित करें कि विदेशी मुद्रा के संकट के बावजूद भी देश प्रगति पथ पर अग्रसर हो। वित्त मंत्री ने यह स्पष्ट कर दिया था कि देश के भुगतान सन्तुलन में इस समय जो संकट आन खड़ा हुआ उसका उपचार करने के लिए न तो वह रुपये का अवमूल्यन करेंगे और न ही ऋण वापसी के लिए विलम्ब काल की माँग करेंगे। इस बात से तो हर कोई सहमत है कि उन वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए जिनकी विदेशों में बहुत माँग है। आयात के पात्र होने के लाइसेंस उन्हीं को दिये जाना चाहिए जो वास्तव में विदेशी मुद्रा समर्पित करें; कर प्रत्यय प्रमाण पत्र दिये जाने चाहिए और खाद्य तथा उर्बरक के अतिरिक्त अन्य सरकारी आयातों पर कड़ी निगरानी रहनी चाहिए।

पिछले प्रधान मंत्री तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़ गये और उन्होंने यह दलील दी कि सरकारी उपक्रमों को अपने उत्पादन का कम से कम २५ प्रतिशत निर्यात करना चाहिये। यह इच्छा हाल ही में व्यक्त की गई है, परन्तु अभी इसे व्यावहारिक रूप प्रदान नहीं किया गया है। प्रायः लोगों की यह धारणा है कि वर्तमान कठिनाइयों को दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि निर्यात बढ़ाया जाये और आयात कम किया जाये। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिये कि विदेशी सहायता पर निर्भर रहने की आदत को धीरे-धीरे समाप्त किया जाये। लेकिन इस के साथ-साथ यह भी सही है कि जब तक केन्द्रीय सरकार से लेकर ग्राम पंचायत तक के खर्च में कम से कम १५ से २० प्रतिशत तक कमी नहीं की जाती तब तक प्रगति की दर निरन्तर कम होती जायेगी।

स्व० शास्त्री जी ने यह ठीक ही कहा था कि “एक वर्ष के विश्राम के पश्चात् चौथी योजना के बारे में विचार किया जाये।” उच्च अधिकारियों में केवल शास्त्री जी ही थे जिन्होंने इतनी यथार्थवादी बात कही है। सभी चाहते हैं कि आर्थिक आधार को स्थिर बनाया जाये ताकि जो लक्ष्य पूरे नहीं किये जा सके वे इस बीच पूरे किये जायें और कृषि की पैदावार को बढ़ाने के लिए और भी प्रयत्न किये जा सकें। मूल अभिप्राय यह है कि इस बीच वे परियोजनाएँ पूरी कर ली जायें जो अत्यन्त आवश्यक हैं और जो उद्योग लगाये जा चुके हैं उनसे अधिकतम उत्पादन किया जाये। योजनाकारों ने प्रधानमंत्री पर यह जोर डाला था कि वह सरकार की आर्थिक नीतियों को दोष रहित बनायें और उन अड़चनों को दूर कर दें जिनके

कारण उन्हें यह सन्देह होता है कि देश में एक और योजना कार्यान्वित करने की सामर्थ्य नहीं है। वे इस बात को मानते हैं कि तीसरी पंचवर्षीय योजना की बहुत सी परियोजनाएँ कार्यान्वित नहीं हो पायेंगी और योजना को स्थगित करना अनिवार्य होगा, लेकिन फिर भी अपने मन से वे नहीं चाहते कि चौथी योजना को एक वर्ष के लिए स्थगित करके आर्थिक हालत को मजबूत बनाया जाये। इससे साफ़ पता चलता है कि वे इस बात को ध्यान में रख कर विचार तथा कार्यवाही नहीं करते कि उनके पास कितनी मात्रा में विदेशी मुद्रा उपलब्ध है।

यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं होता कि गैरसरकारी तौर पर पौंड का मूल्य २३ रुपये और डालर का मूल्य ८२.७ हो चल रहा है, क्योंकि वित्तमंत्री लोगों में यह विश्वास पैदा नहीं कर पाये कि वर्तमान स्थिति में सुधार करने के लिए सरकार कोई सक्रिय कार्यवाही कर पायेगी। वित्त मंत्री का चाहे कुछ भी दावा है, लेकिन उनकी घोषणाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अब लगभग अनिश्चिताएँ दूर हो चुकी हैं और लोग इस बात से सहमत हो गये हैं कि अवमूल्यन से देश की हालत में कोई सुधार नहीं हो पायेगा। दूसरी तरफ़ यही रह जाता है कि हम उतनी ही विदेशी मुद्रा खर्च करें जो निर्यात द्वारा और विदेशी सहायता से प्राप्त होती है। अब तक हम अपनी हैसियत से अधिक खर्च करते आये हैं, जिसका परिणाम यह है कि हम अपनी वर्तमान आय से उधार चुकाने की सामर्थ्य भी नहीं रखते और फिर भी यह उम्मीद लगाये हुए हैं कि दिन प्रतिदिन के कामों में हमें और ऋण प्राप्त हो जाय। हमारे राष्ट्रीय नेताओं की अक्लमन्दी इसमें है कि वे गत तेरह वर्ष के अनुभव से लाभ उठावें। इन परिस्थितियों में यह आशा रखना सर्वथा निरर्थक होगा कि १९८१ में भारत का भाग्य चमकेगा।

पिछले प्रधान मंत्री ने यह संकेत दिया था कि देशीय उत्पादन को प्रोत्साहन देने की खातिर आयात शुल्क बढ़ाया जायगा जिससे ऐसा लगता है कि बजट से पूर्व ही आयात शुल्क काफी बढ़ा दिया जायेगा। लेकिन आयात शुल्क बढ़ाना कुछ मुनासिब दिखाई नहीं देता, क्योंकि इससे देश में लागत मूल्य बढ़ जायेगा और शायद निर्यात के लिए अधिक राज सहायता देनी पड़ेगी। देशीय उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रायः आयात शुल्क बढ़ाने की दलील दी जाती है लेकिन वास्तव में इसका उलटा असर होता है। लागत मूल्य बढ़ जाता है और विदेशों में हमारे वस्तुओं की बिक्री नहीं हो पाती। अधिक उत्पादन, लचीले मूल्य ढाँचे और निर्यात के जोरदार कार्यक्रम के बारे में शास्त्री जी ने ठीक ही कहा था। सभी लोग जानते हैं कि प्रोत्साहन मिलने से श्रमिकों और किसानों के मन में उत्पादन बढ़ाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार अगर उद्योगों को आवश्यक प्रोत्साहन मिले तो उन्नति को रफ़्तार बढ़ाने के सब प्रयत्न निष्फल से हो जाते हैं। अगर १९६५ के पहले चार महीनों से रुख का सही अन्दाज़ लग सकता है तो आयात पर लगाये गये कठोर प्रतिबन्धों के कारण औद्योगिक उत्पादन में बड़ी भारी कमी होने वाली है। १९६४-६५ की औद्योगिक उन्नति की दर का अनुमान ६.४ प्रतिशत है, जो कि १९६४ की ६.९ प्रतिशत दर से भी कम है। तीसरी योजना के पहले तीन वर्षों की उन्नति की दर क्रमशः ६.६ ८.२ और ९.१ प्रतिशत थी। तीन वर्षों की औसत दर ७.६ प्रतिशत बैठती है, जब कि लक्ष्य ११ प्रतिशत का था। १९६४-६५ में उन्नति की दर

इसलिए गिर गई कि खानों तथा धातुओं, रसायनों तथा वस्त्र उद्योगों के उत्पादन की रफ़्तार कम रही। योजनाकारों का अब भी विचार है कि चौथी योजना के दौरान ७० प्रतिशत उत्पादन बढ़ेगा। वित्त मन्त्री ने कहा था कि अनाज के एकाधिकार पूर्ण समाहार पर नियंत्रण, विदेशों से नये ऋण प्राप्त करने और ऋण बटोरने के सम्बन्ध में फिर से विचार किया जाये।

एक योजनाकार ने कई बार इस बात को दोहराया कि इस समय जो महान् परिवर्तन हो रहा है उस कारण भी लोगों में नैराश्य है। बड़े दुःख की बात है कि उन्होंने यह महसूस नहीं किया कि इस नैराश्य का कारण यह है कि लोगों पर टैक्सों का बोझ बहुत बढ़ गया है। गरीब और भी गरीब हो गये हैं। बेरोज़गारी की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है और अत्यावश्यक वस्तुएँ उचित मूल्य पर उपलब्ध नहीं होतीं। घोर मूल्य देशनांक (जो मार्च, १९६३ को समाप्त होने वाले वर्ष में १०० था) जो अप्रैल, १९६४ में १३९.९ था वह जनवरी, १९६५ में १५९.६ हो गया। राजकोष वर्ष १९६४-६५ का औसतन देशनांक १८२.७ निकला जो १९६३-६४ के १३५.३ औसतन देशनांक से १२.९ प्रतिशत अधिक था। यह तो युगों पुरानी बात है कि देश का मूल्य देशनांक अनाज के मूल्यों पर निर्भर करता है। अनाज की वार्षिक पैदावार में अचानक कमी हो जाने के कारण ही मूल्य इतने बढ़ जाते हैं। लोगों की यह धारणा है कि इस प्रकार की आर्थिक बुराइयों को कृषि की पैदावार बढ़ा कर ही दूर किया जा सकता है। स्पष्ट है कि उर्वरकों, बढ़िया बीजों आदि के खरीदने के लिए ऋण सुविधाओं के विस्तार से स्थिति सुधर सकती है। यह ठीक है कि नाइट्रोजन के आयात पर एक रुपया खर्च करने से चावल के आयात पर रु० २.९९ की बचत होती है और नाइट्रोजन के आयात पर एक रुपया खर्च करने से गेहूँ के आयात पर रु० १.६ की बचत होती है। इसलिए उर्वरक का बड़े पैमाने पर आयात भी लाभप्रद सिद्ध होता है। हमें प्रति वर्ष ३६.६ लाख टन नाइट्रोजन, २३.३ लाख टन फ़ासफ़ैरिक एसिड और ७४००० टन पोटाश की ज़रूरत पड़ती है। अगर यह माना जाये कि हमारे देश में ४२५० लाख एकड़ भूमि में काश्त होती है तो उस हिसाब से प्रति हैक्टर १६ किलोग्राम अनाज प्राप्त होगा जब कि इस समय प्रति हैक्टर तीन किलोग्राम प्राप्त हो रहा है। चौथी योजना के लक्ष्यों के अनुसार २० लाख टन नाइट्रोजन, दस लाख टन फ़ासफ़ैरिक एसिड और ३५,००० टन पोटाश से प्रति हैक्टर ८ किलोग्राम अनाज प्राप्त होगा। इस माँग को पूरा करने के लिए कृषि की पैदावार पाँच गुना करके ही कृषि के क्षेत्र में एक क्रांति लाई जा सकती।

पुराने रीति रिवाजों पर चलने वाले समाज में कृषि व्यवसाय गतिहीन बन जाता है। खेती-बाड़ी के पुराने तरीकों को बदल कर आधुनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विकसित तरीकों का उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। तभी हमारी भूमि की पैदावार में काफ़ी वृद्धि की जा सकती है। अक्सर यह भी दलील दी जाती है कि कृषि की बढ़ती हुई ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उद्योगों तथा सिंचाई के लिए बिजली उपलब्ध नहीं की जा सकी और इसी के परिणामस्वरूप यह गतिरोध हो गया है। इसी प्रकार औद्योगिक विकास भी बहुत हद तक इस पर निर्भर है कि कृषि उत्पाद उपलब्ध हो। राष्ट्र धन की वृद्धि के लिए दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि हर साल यदि कृषि की पैदावार में ५ प्रतिशत

बढ़ोतरी होती जाये तो हमारी समस्त आर्थिक समस्याएँ हल हो जायेंगी। अगर हम उत्पादन की दर को बढ़ा कर बांछित स्तर तक नहीं ले जा पाते तो हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। यह बताना भी उचित होगा कि अब तक ३ प्रतिशत की दर से जो कृषि की उन्नति हुई, वह मुख्यतः क्षेत्र के विस्तार से ही हुई है, पैदावार में विशेष वृद्धि नहीं हुई। क्षेत्र का विस्तार तो सीमित स्तर तक ही किया जा सकता है, इसलिए कृषि की निरन्तर उन्नति तभी हो सकती है जब कि प्रति एकड़ पैदावार बढ़े। अगर हम न्यूनतम अतिरिक्त प्रयास करते जायें तो अगले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आय में ७ प्रतिशत कम्पाउण्ड दर से बढ़ोतरी करना हमारे लिए सम्भव है। यह तो स्वाभाविक है कि चौथी योजना इस बात को ध्यान में रख कर तैयार की जानी चाहिए कि कृषि उत्पादन और निर्यात संवर्धन को अधिकतम महत्त्व मिले।

अनुमान है कि चौथी योजना के दौरान भारत को कुल ६१०० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की जरूरत पड़ेगी, जिसमें से ५१०० करोड़ रुपये माल का निर्यात करके प्राप्त किये जाते हैं। शेष ४००० करोड़ रुपये की मुद्रा विदेशी संसाधनों से एकत्र की जाती है। चौथी योजना के दौरान ब्याज समेत १३५० करोड़ रुपये के ऋण लौटाये जाने हैं। विदेशी मुद्रा के संकट से यह खतरा पैदा हो गया है कि चौथी योजना की लागत अधिक नहीं रखी जा सकेगी। स्पष्ट है कि योजना आयोग ने विदेशी मुद्रा की आवश्यकता का अनुमान इस बात को ध्यान में रखते हुए लगाया था कि देश में उन्नति हो जायेगी। और कई मामलों में हमारा देश स्वावलम्बी हो जायेगा और लोगों को पूर्ण रोजगार प्राप्त हो जायेगा। और उन्होंने इस बात को ध्यान में नहीं रखा कि कई प्रकार की कुछ कमियाँ भी रह सकती हैं और कथनी और करनी में कुछ अन्तर भी रह सकता है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपलब्ध विदेशी मुद्रा को देखते हुए ही चौथी योजना का आकार निश्चित करना चाहिए। ऐसे हालात में यही हो सकता है कि योजनाकार चौथी योजना के आकार प्रकार और ढाँचे का पुनरावलोकन करें ताकि नई परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन किये जा सकें।

—वीरेन्द्र अग्रवाल

युद्ध-संदर्भ और हम

अपने सामाजिक परिवेश में हम युद्ध से मूलतः तीन प्रकार से संबद्ध रहे हैं। पौराणिक सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर, मध्ययुगीन परवशता के ग्रंथ धरातल पर तथा नव जागरण की स्वातन्त्र्य चेतना के धरातल पर। जब तक इसकी जानकारी हमें नहीं हो जाती कि हमारे सामाजिक जीवन में इन तीन ऐतिहासिक अवस्थाओं के क्या व्यापक प्रभाव रहे हैं, तब तक हम अपनी वर्तमान स्थिति का सही विश्लेषण नहीं कर सकते।

प्राचीनकाल में व्यक्ति और समुदाय के अन्यतम हितों की सुरक्षा भारतीय वर्ण-व्यवस्था में विद्यमान थी और सामाजिक मूल्यों से प्रतिबद्ध होने में उसकी वैयक्तिकता पर कोई आँच नहीं आती थी। जीवन-मूल्यों को स्वीकृति दे देने का उसके लिए दूसरा अर्थ यह भी था कि वहाँ उसे अपने वरण की उच्चतम गरिमा को बनाये रखने की छूट उपलब्ध थी और चाहने पर वह वैराग्य क ख ग—११

जैसी अति वैयक्तिक स्थिति को भी चुनने के लिए स्वतंत्र था और चूँकि वैयक्तिक वरण की यह स्थिति समाज में स्वीकृति थी, इस हेतु एक वैरागी का प्रत्यक्षतः समाज-जीवन का विरोधी होने पर भी न तो उसके प्रति समाज में आदर भाव की कोई कमी आई और न उसके भरण-पोषण और अस्तित्व-सुरक्षा का कोई प्रश्न ही कभी उठा।

ऐसी स्थिति में, समाज-जीवन के स्वीकार के साथ ही एक ओर वरण की सर्वोच्च माँगों का उपभोग उसने किया तो दूसरी ओर प्रतिबद्ध होकर उसने समय आने पर सब कुछ उत्सर्ग कर देने के लिए भी अपने को सिद्ध किया। समाज-जीवन पर आँच लाने वाली हर आक्रान्त स्थिति में अपनी सम्पूर्ण चेतना और कायिक क्षमताओं के साथ उसका प्रतिरोध में खड़ा हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। इसके लिए हमें अपने इतिहास से उदाहरण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

उसके बाद निरन्तर के विदेशी आक्रमणों से जब राष्ट्र अशक्त होकर गुलाम हो गया तब हमारे समाज-जीवन का मोड़ ही दूसरी तरफ हो गया और हम ८०० वर्षों तक सांस्कृतिक चेतना की ग्रंथी कंबल ओढ़ कर सोते रहे। इसीलिए युयुत्सा के सर्वाधिक निकट होने पर भी गाथा और रासो हमारी सामाजिक जागरूकता के न्यूनतम प्रतीक हो पाये। इनके नायक क्षेत्रीय स्वार्थों के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण देशकाल की सीमा से ऊपर उठ कर मानवी गौरव की कोई ऐसी परम्परा क्रायम नहीं कर सके जिसमें उनका वरण किसी मानवोचित अथवा मूल्यगत उपलब्धि की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता हो। पूर्व और उत्तर मध्ययुगीन सारी कलात्मक और सांस्कृतिक चेतना इसीलिए व्यक्ति स्वातंत्र्य का बीड़ा उठाती हुई कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। समसामयिक समाज-जीवन से पलायन कर इस युग की सारी संवेदना महाभारत और रामायण काल की चेतना के पुनर्स्मरण में युक्त हो गई। और इसी भाँति पूरी आठ शताब्दियों तक भारत की सामाजिक चेतना सुप्तावस्था में जीवित रही। कहने का तात्पर्य यही कि ८०० वर्षों के दीर्घ ग्रंथकाल में वे सब प्रवृत्तियाँ तो उभरीं जिनका अंतर्विरोध (क्लेश) राज्य से नहीं था, किन्तु उनमें स्वातंत्र्य-चेतना के प्रयोग अथवा सिद्धि की बात न तो वैयक्तिक तौर पर ही और न सामूहिक रूप में ही कभी उभर कर सामने आई।

किन्तु आज हमारे सम्मुख युद्ध चेतना को आत्मसात् करने की स्थिति अपने सारे विगत सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन की पृष्ठभूमि से भिन्न है। बौद्धिक धरातल पर मानवी स्वतंत्रता की आज जो भूमिका बनी है और उसकी प्रबल अनुभूति पिछली एक शताब्दी में हमने की, वह विश्व के ज्ञात सांस्कृतिक इतिहास में एक अद्वितीय घटना है। दो विश्वयुद्धों से परिचित होकर हम न केवल फ्रांसिज्म और अधिनायकवादी परम्परा का ही खोखलापन देख सके हैं, अपितु समाजवादी और प्रजातांत्रिक प्रणालियों में विलीन होती हुई व्यक्ति की विविध (नांशिप्टिंग) की स्थिति को हम सहज और व्यावहारिक धरातल पर भी अनेक बार अनुभव कर चुके हैं। इस प्रकार समाज-प्रणालियों और राष्ट्रीय संगठनों के कल्प में बँधी विचारधाराओं को न तो व्यावहारिक और न सैद्धान्तिक धरातल पर ही हम अपनी स्वीकृति दे सके। व्यक्ति मूलतः स्वतंत्र है और उसकी स्वतंत्रता की आधार भूमि है, वह समाज जिसमें वह अपने आप को व्यक्त करता है। किन्तु समाज शब्द का यहाँ जो उपयोग हम कर रहे हैं वह व्यापक अर्थ में नहीं।

यहाँ सीमित रूप से उसका इतना ही अर्थ है कि जितने में व्यक्ति को अपने समुचित वरण के लिए स्वीकृति देने वाले किसी समुदाय से सिद्ध हो सकता है। बात को और अधिक स्पष्ट करें तो कहना होगा कि समाज अपने आप में व्यक्ति के लिए साध्य न होकर साधन का ही काम कर सके, इतने ही सीमित दायरे में उसका मूल्य शेष रह गया। प्रारूप कुछ ऐसा बन गया था कि समाज की कसौटी में अपने को न कस कर समाज को अपनी कसौटी में प्रयुक्त कर खरा कर के देखने की बिल्कुल उलटी हुई स्थिति में हम अपने को पाने लगे।

किन्तु इस बात को स्वीकृति देने का अर्थ स्पष्टतः कई विचारकों के मन में यह भी हो सकता है कि किसी सामाजिक व्यवस्था को अपनाए बगैर वरण की स्वतंत्रता का क्या कोई भी अर्थ शेष रहता है? तंत्र स्वयं एक स्वीकृत मूल्यबोध की ओर इंगित करता है। और मूल्यों का निर्वाह आवश्यक रूप से समाज के जरिए ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में वरण न तो उन्मुक्त और न निर्द्वन्द्व ही हो सकता है। वैयक्तिक वरण की स्वतंत्रता की बात भी तब हमें एक तंत्र के पूर्व-स्वीकार के साथ ही करनी पड़ेगी। यह सब बातें तो ठीक हैं, किन्तु हमें आज जिस बात पर जोर देना है वह, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, समाज न हो कर व्यक्ति-सत्ता ही है। मनुष्य जीवन को प्राप्त करने के साथ ही समाज की सत्ता को तो अनिवार्य रूप से उसे स्वीकार करना ही है, किन्तु व्यक्ति के रूप में उसे इस अनिवार्यता को अन्य सभी अनिवार्यताओं के साथ निरन्तर अपने अस्तित्व-संदर्भ से नकारता है। इस निरन्तर के नकार के बिना वह अपने होने को सिद्ध ही नहीं कर सकेगा। अपने होने को मौलिक रूप से अलग-अलग की स्थिति में उसे न केवल देखना होगा, अपितु दूसरों को भी उसका आभास कराना होगा।

विश्वयुद्ध ने सर्वप्रथम व्यक्ति को आवश्यक रूप से समाज परम्परा से कट कर अंतर्मुखी होने की ओर प्रवृत्त किया था, ताकि वह उसमें हुए व्यापक तौर पर मानव मूल्य के ह्रास के कारणों पर अपने संदर्भ से सोच सके। युद्ध यदि समाज जीवन की अतिथीय आवश्यकता है और उसकी अपनी सुरक्षा और उसके उपाद्वेलन (एशर्सन) के लिए सैद्धान्तिक धरातल पर उसका होना अनिवार्य है, तो ऐसे समाज-जीवन का उसके लिए क्या अभिप्राय है—युद्ध ने सर्वप्रथम वैयक्तिक-रूप से प्रत्येक बौद्धिक के मन में यह प्रश्न उपस्थित कर दिया। मृत्यु के कारणों में यदि युद्ध आवश्यकता के रूप में जोड़ दिया जाता है और व्यक्ति के निरीह विनाश का ताण्डव प्रस्तुत करता है व उसके ही स्वार्थों की यह आविष्कृति जब पलट कर उसी के लिए एक महा-मारी की भाँति वशहीन हो जाती है, तो फिर क्या मानवी कर्म की किंचित कोई गरिमा शेष रह जाती है! युद्ध जैसी एक ऐसी अमानवी विवशता में, जिसका अंततः प्रत्येक समुदाय और समाज शिकार होता ही है, अपने को व्यक्तिगत रूप से जोड़ देना क्या उसके लिए श्रेयस्कर है? यदि नहीं, तो समाज-जीवन के स्वीकार के अवसर पर जिसमें ऐसी अनेक विनाशकारी अवस्थाएँ अनिवार्य रूप से विद्यमान हैं—उसे अपने तई पहली हिचक की अनुभूति हुई। और एकाएक उसने अपनी सत्ता को मात्र मानवतावादी मूल्यों के स्वयंस्फूर्ति समर्थन में सजग पाया।

क्योंकि मानवतावाद की यह स्वीकृति उसे न तो उस समाज से प्रतिबद्ध करती थी जिसकी इकाई वह देशकाल की सीमाओं के कारण था और न उसे किसी ऐसे सिद्धान्त को अन्तिम रूप से मान लेने की ओर अग्रसर करती थी जिसे उन सीमाओं में मूर्तरूप मिल रहा कृ. ख. ग—११

था जिनमें वह रह रहा था। यही वह स्थिति थी जिसे अमूर्तीकृत धरातल पर कोई भी बौद्धिक स्वीकार करने की सहज कामना कर सकता था। इसका यह अर्थ कदाचित् नहीं है कि कोई बौद्धिक आवश्यक रूप से उन मूल्यों को नकारे ही जिन्हें उसका समाज स्वीकृत कर चुका हो। इन सबका अर्थ यह हुआ कि अपनी देशकाल की सोमाओं से परे होकर उसे अपने वरण की स्वतंत्रता का व्यापक तौर पर मानवतावाद के व्याज से पहली बार अनुभव हुआ। अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मर्यादाओं से निरन्तर उसका यह अलगाव उसे इन सभी से बड़ी मानवतावादी भूमि की ओर धकेल रहा था। और अब उसके समक्ष नैतिक मर्यादाओं की ही बाधा शेष थी। यहाँ यह बात जान लेना आवश्यक है मूल्यों से अलगाव के अपने दौर में अभी तक व्यक्ति वृहत्तर उपलब्धियों की ओर अभिमुख दिखाई दिया था और सैद्धान्तिक तौर पर भी उसके ऊर्ध्वगमन का समाज विरोध नहीं कर सकता—किन्तु अब की बार का उसका आमुखीकरण (एनकाउन्टर) मूल्यों के प्रति न होकर अपने ही प्रति था और वह ऐसी स्थिति से गुज़र रहा था कि इस बार के उसके किसी भी निर्णय पर उसे अन्तिम रूप से बुरा भला कहा जा सकता था, क्योंकि यह संघर्ष उसके अस्तित्व और उसकी नैतिकता के बीच था। व्यक्ति के रूप में नैतिकता की वह बाधा भी उसे पार करनी थी—अपने से अलगाव की इस यात्रा में—जिसके कारण उसका किसी अन्य से जुड़ना आवश्यक था और चूँकि वह उस अन्यत्व को अपनी इच्छानुसार खण्डित और अनुकूलित नहीं कर सकता था, इस हेतु उसके लिए उसे अपनी स्वतंत्रता का हनन (कर्टेलमेंट) करना ही पड़ता था। प्रश्न उसके समक्ष अब यही था कि इतनी सी बात के लिए जिसमें अन्य का स्वीकार आवश्यक है—क्या उसे नैतिकता के मूल्यों का अपनी प्रकृति के विरुद्ध चयन करना होगा—अथवा उस स्थिति को मूल्यहीन अवस्था में अपनी इच्छानुसार स्वीकार या इन्कार करने का अवसर रखना होगा। मानव के रूप में वह एक नैतिक स्थिति को स्वीकार या व्यक्ति के रूप में वह अपने अस्तित्व को अभिज्ञप्ति करे।

इस संक्रान्ति काल में जो तीसरी स्थिति स्वतः विकसित हो रही थी वह यह थी कि अलगाव की इस यात्रा में उसकी स्वतंत्रता अथवा स्वच्छन्दता की तो बात निरन्तर सम्मुख आती जा रही थी, किन्तु जितना-जितना वह मूल्यहीनता और अप्रतिबद्ध धरातल की ओर पहुँचता जाता था वैसे-वैसे वरण की सार्थकता डूबती जा रही थी। फिर एक ऐसी स्थिति भी आई, जब अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति का बोध ही उसे वरण का भोग-सुख प्रदान कर सका। किन्तु वरण की गरिमा को अब व्यक्ति एक अन्य प्रकार से अनुभव कर सकता था। अपने समानधर्मा व्यक्तियों को स्वकर्म में प्रवृत्त देख कर वह जिस आवश्यक सामूहिक और सामाजिक गति को निर्धारित कर रहा था और उस कर्म की निर्बाधित सम्भावना को भोग रहा था वही भोग प्रकारान्तर से उसे अपने वरण की सार्थकता का बोध भी करा रहा था। फिर एक ऐसी अवस्था भी उसने अनुभव की जब अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति का बोध ही उसे वरण का भोग-सुख प्रदान करने लगा था।

इन दोनों स्थितियों में उसके सामने यह बात आई कि चूँकि अलगाव की अपनी यात्रा में मनुष्य मानवतावाद के उच्चतम नैतिक आदर्श से गुज़र चुका था, इसलिए यदि वह अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति अन्धकार में उछल कर भी करे तो उछाल से इतर के अपने जीवन में

वह एक सामाजिक के रूप में रहेगा ही, एक विशेष प्रकार की तटस्थता (डिटेचमेंट) का तथा विराग की स्थिति का अनुभव करता हुआ सा तथा उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डालता हुआ ।

उछाल शब्द या तो सजग प्रवृत्ति या फिर आकस्मिकता की ओर ही इंगित करता है और इन दोनों ही स्थितियों में यह बात साफ़ दिखाई देती है कि चूँकि इस उछाल में ही उसकी प्रवृत्ति है, इसलिए उसका वही कर्म विशेष महत्त्व का और ध्यान देने योग्य है जिसमें वह उछल कर प्रवृत्त हुआ है । शेष के अपने कर्मों में वह सक्रिय नहीं है निष्काम भाव से ही वह वहाँ जुड़ा है और सामाजिकता को वह वहीं पर निरन्तर प्रभावित भी कर रहा है । एक तटस्थ घटक की भाँति, और निस्संग तौर पर ।

जो लोग इसके बावजूद भी समाज-जीवन से प्रतिबद्ध होकर सोचते हैं, वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वरण के उछाल की यह स्थिति निर्वच्य (अनप्रोडिक्टेबल) नहीं है । वह भी मूलरूप से किन्हीं सामाजिक मूल्यों से ही जुड़ी है, इसलिए व्यक्ति की निर्द्वन्द्वात्मक रजा-कारिता को न तो सैद्धान्तिक धरातल पर ही स्वीकृत किया जा सकता है और न व्यावहारिक धरातल पर । किन्तु यह बात चूँकि समाज के प्रावभाव की अग्रथार्थ स्थिति को ही पृष्ठ करती है, इसलिए इसे प्रस्तुत विवेचन का विषय नहीं बनाया जा सकता ।

इन सभी स्थितियों की पृष्ठभूमि में जब युद्ध फिर एक बारगी हम पर थोप दिया गया तो सर्व प्रथम हमारे लिए यह प्रश्न उठा कि राज्य द्वारा दिये गये बहुत से असन्तोषों के बावजूद भी हमें उस व्यवस्था को सुरक्षित रखना है, जिसमें वरण की सम्भावनाओं की गारंटी तो है । यह गारंटी हमें पर-राष्ट्रीय व्यवस्थाओं से इसलिए नहीं मिल सकती, क्योंकि जब तक हम उन्हें स्वीकार न करें तब तक हमें अपने ही समाज, जिसके अंग हम हैं, उसकी श्रेयस्कर स्थितियों की रक्षा करना होगा ।

अपने सामाजिक जीवन में स्वीकृत प्रजातान्त्रिक प्रणाली (जिसके हम स्वतः आज एक अंग हैं) मूलभूत वैचारिक स्वतंत्रता के अभिव्यक्तिकरण का जो न्यूनतम एलाउन्स वैयक्तिक रूप से हमें प्राप्त है—उसकी रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम वैयक्तिक रूप से ही उस सम्बन्ध में सोचें और कुछ कहें ।

युद्ध और मृत्यु ही मनुष्य के सम्मुख ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें वह दे दिया जाता है । इनकी अनिवार्यता उसे दूसरे प्रकार से प्रतिबद्ध करती है—अन्य सभी समाज स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिबद्धता उसके अपने ही द्वारा परिष्कृत होने की एक सम्भावना अवश्य रखती है, अर्थात् समाज-जीवन में स्वीकार्य उसकी प्रतिकूलता अनिवार्य नहीं है सापेक्ष है । और मानवी इतिहास में प्रतिबद्धता की यह सापेक्षता स्वीकृत हो सकती है—क्योंकि प्रतिबद्धता मूलतः स्वतंत्र वरण की नियति है इसलिए वह समय और स्थिति सापेक्ष है । अनिवार्य रूप से जहाँ व्यक्ति जुड़ता है वहाँ प्रतिबद्धता की मूल भूमि नहीं है, वहाँ आवश्यक स्वीकृति का आरोपण ही होता है—इसलिए युद्ध और मृत्यु के प्रति मनुष्य का दायित्व उसे प्रतिबद्ध नहीं करता कटिबद्ध चाहे करे—तत्परता उसकी आवश्यक माँग है—इन स्थितियों से उत्पन्न मानवी क्रिया असहायता और दयनीयता की अनहोनी प्रतिक्रियाओं के रूप में रहती है—सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में

वरित उसकी प्रतिबद्धता यदि उसे असहाय और दयनीय बनाती है तो वह वहाँ मानवी नियति की एक वैयक्तिक गरिमा का पृष्ठ भी उजागर करती है। इसके विपरीत मृत्यु और युद्ध लाने से पूर्व उसे निरन्तर सचेत और जागरूक करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। उस आगत को सहज रूप में स्वीकारने के जिसका निकटतम अनुभव उसके लिए मात्र सम्पूर्णरूप से न होना होगा, उसे उस प्रतिबद्ध स्थिति के प्रति भी गहन रूप से तत्पर करता है, जिसे वह सामाजिक स्वीकृति दे चुका है अर्थात् यदि वैयक्तिक संदर्भ में जो अनुकूलताएँ उसे अपने स्वतंत्र वरण के रूप में समाज में प्राप्त हैं उस भीति-काल में वह उनकी रक्षा के लिए अधिक क्रियाशील ढंग से तत्पर और जागरूक हो सकता है। इनके अभाव में मृत्यु और युद्ध उसे किसी सामाजिक जीवन प्रणाली की सुरक्षा के प्रति जागरूक नहीं बनाती—ऐसे समय मात्र अपने अस्तित्व के न रहने का भय भी उसमें अधिक से अधिक रह सकता है और अपने साथ भविष्य में उभरने वाली सम्भावनाओं के एकाएक विनाश की चिंता। इसलिए युद्ध-स्थिति के प्रति उसका विरोध वर्तमान संदर्भ में दो ही प्रकार से हो सकता है।

यदि वह कहीं वरित है तो वरित मूल्य की रक्षा के प्रति उसका दायित्व—अपनी प्रतिबद्धता के प्रति उसकी सजगता ऐसे समय विशेष रूप से उजागर होती है।

यदि वह वरित नहीं है तो मानवी सम्भावना की रक्षा का वैयक्तिक दायित्व वह अनुभव करता है और युद्ध-स्थिति में उसको प्रकटाने का श्रेय लेता है।

दोनों ही स्थितियों में सुप्तावस्था की क्वांति रह नहीं सकती। प्रवृत्त उसे दोनों ही तरह से होना पड़ता है। वैयक्तिक क्रियमाणता दोनों ही स्थितियों में मनुष्य की विवशता बन जाती है। पिछला युद्ध-संदर्भ हमें इस दूसरी स्थिति के ही अधिक समीप ले जाता है।

—प्रकाश परिमल

धर्म और आधुनिकता

बात को शुरू करने के सिलसिले में पहली बात जो विचार के क्रम में आती है वह यह है कि धर्म क्या है? रिलीजन शब्द की उत्पत्ति 'रिलीगेयर' शब्द से हुई है, जिसका मौलिक मतलब एक बन्धन होता है। इसलिए दो व्यक्तियों के बीच का हर बन्धन (रिश्ता) एक धर्म है। प्रचुर प्रयोग की स्थिति में शब्द भी अपना अर्थ परिवर्तन एवं विस्तार करता है और ज्यादातर अपने मौलिक अर्थ से हटकर अर्थ देने लगता है। रिलीजन शब्द का उचित पर्याय संस्कृत का 'धर्म' शब्द नहीं है। यह 'धर्म' शब्द संस्कृत के धृ धातु से बना है जो धारण करने का अर्थ ध्वनित करता है। वस्तु के गुण अर्थात् उसके प्राथमिक गुण का द्योतन भी यह शब्द करता है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से धर्म को गुणों के धारणीकरण की एक प्रक्रिया माना जा सकता है। प्रोफेसर ल्यूबा धार्मिक वृत्ति को भय से उद्भूत मानते हैं जो आगे चल कर प्रेम का स्थान ले लेती है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर जो कुछ भी मनुष्य पा गया है अथवा जो कुछ भी उपलब्ध है उसकी प्रक्रिया धर्म नहीं है। अपने विकसित स्वरूप में यह अप्राप्य को प्राप्त करने की, अज्ञेय को ज्ञात करने की प्रक्रिया है। धर्म शुद्ध एवं निःस्वार्थ भाव से व्यक्ति को किसी रहस्यात्मक

लक्ष्य से जोड़ता है। मुक्ति, निर्वाण, एवं ईसाइयों की ईश्वर से एकता की बात, सभी में एक आध्यात्मिक तृप्ति मिलती है।

जेम्स जी० फ्रेजर धर्म को वैज्ञानिक विकास की एक अवस्था मानते हैं। उनकी स्थापना है कि धर्म का उद्भव मैजिक की असफलता में निहित है, और व्यक्ति का धार्मिक असन्तोष ही उसके वैज्ञानिक विकास स्रोत हैं। मानवीय विकास की गति विज्ञान की विकसित अवस्था तक आ गई लेकिन धर्म का अस्तित्व आज भी अपने स्थान पर रुढ़ि, परम्परा, अन्धविश्वास एवं सम्प्रदाय की कुत्सित भावना से सम्बद्ध है। धर्म दर्शन की दृष्टि से जीवन अदृश्य शक्तियों द्वारा संचालित होता है जो भौतिक अथवा अन्य सभी शक्तियों से शक्तिमान् एवं समर्थ है। धर्म अपनी प्रकृति में शुद्ध-रूप से व्यक्तिगत अनुभूति है, किन्तु ऐतिहासिक क्रम के अनुसार एक ऐसी स्थिति आई जब यह प्रक्रिया एक सामूहिक प्रयत्न में बँध कर चलने लगी। किन्तु जब समूह टूटने लगे और धार्मिक व्यापकता आने लगी तो धर्म विरोधी मूल्यों ने धर्म के जामे में अधिक तीव्रता से अपना विस्तार करना आरम्भ कर दिया। सामूहिक एकता के पीछे कोई स्वतंत्र चेतना तो कार्य करती नहीं थी, इसलिए विकास को स्थिति में भी निर्जीवता और निष्प्राणता को ही बढ़ावा मिला। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन धर्म विरोधी मूल्यों के साथ गतिशील होने लगा। दर्शन का नियन्ता धर्म हो गया। दार्शनिक ऊहापोह में डूबता जीवन को कोई अर्थ नहीं दे पाया और अन्ततः उसने अपने प्रत्येक तर्क को कोई ईश्वर के चरणों में ले जाकर भुका दिया। दर्शन के क्षेत्र में हीगेल और उनके अनुयायियों तक में परमतत्त्व के चरणों में सिर भुकाने की यह परम्परा पाई जाती है। हीगेल ने धर्म को प्रख्यात दर्शन कहा। उनके पूर्ववर्ती कान्ट ने धर्म को हमारे सारे कर्तव्यों के परम आदर्श के रूप में मान्यता दी। हीगेल के पाश्चात् मार्क्स ने दर्शन के क्षेत्र में बगावत का भण्डा खड़ा करते हुए कहा कि “धर्म मनुष्यों के मस्तिष्क में उन बाह्य शक्तियों का काल्पनिक प्रतिबिम्ब है, जो उनके दैनिक जीवन को नियन्त्रित करती हैं। ऐसा प्रतिबिम्ब जिसमें लौकिक शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं।” आदमी धर्म को बनाता है, धर्म आदमी को नहीं। आदमी ने पशु से लेकर वृद्धा तक की पूजा की। क्या यह पूजा मनुष्य को नीचे गिरा कर पशु से नीचे नहीं पहुँचा देती? क्या यह पशु को मनुष्य का ईश्वर नहीं बना देती? घूँट जरा कड़वी थी फिर भी बहुतों ने पी। हर अनपेक्षित, असम्भावित को ग्रहण करने में लोग पहले थोड़ा हिचकिचाते हैं। मार्क्स का मस्तिष्क तो इस शब्द से इतना बौखला चुका था कि वे इस शब्द को ही व्यवहार से बहिष्कृत करना चाहते थे, किन्तु इसके व्यावहारिक बहिष्कृति की चेष्टा तो व्यर्थ थी, क्योंकि उन्होंने भी इसके खिलाफ बहुत कुछ लिख कर इसके पुनर्मूल्यांकन का ही प्रश्न उठाया और यह सही भी है कि मार्क्स के धर्म सम्बन्धी निषेधात्मक पक्ष से ही चिन्तन की यह प्रक्रिया रुक जाने वाली नहीं है। क्योंकि इतिहास के आरम्भ से ही धर्म ने समाज के प्रत्येक स्तर एवं पक्ष को प्रभावित किया है। धर्म ने राजनीति, कला, संगीत, समाज की सभी प्रक्रियाओं पर एक समय तक और एक हद तक अपनी प्रभुता स्थापित की है। प्रारम्भिक दर्शन तो धर्म की उपज ही है और एक अर्थ में दर्शन की क्रियात्मकता जो नैतिकता से आच्छादित होकर चली थी, सामान्यतया धर्म के रूप में स्वीकार की जाती थी। किन्तु आज दर्शन धर्म से मुक्त है। नैतिकता परिभाषा में बँध नहीं पा रही है।

काम्पे, स्पेन्सर आदि ने इसकी व्याख्या प्राकृतिक आधारों पर की है। आज स्थिति यह आ गई है कि धर्म निपट अकेला हो गया है। कला जो धर्म से हाथ मिला कर चली आज नैतिकता और धार्मिक समर्थन की अपेक्षा तक नहीं कर रही है। एक दिन था जब कला धर्म की आज्ञा के बिना साँस तक नहीं ले सकती थी। धर्म की चेरी संगीत ने जो इसका यशगान गाया करती थी, अपने रागिनियों के दरवाजे धर्म के लिए बन्द कर दिये हैं। आज धर्म की स्थिति जर्जर हो गई है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि धर्म जर्जर क्यों हुआ ?

एक ढंग से बात साफ़ और सीधी है कि शुरू से ही धर्म के दो कोण रहे हैं। एक नीति का, दूसरा रीति का। ईसा, बुद्ध, कन्फ़्यूसियस नीतिज्ञ थे तथा इनके पीछे चलने वालों की बड़ी संख्या रीतिज्ञों की रही। प्रोटेस्टेन्ट, कैथोलिक, हीनयान, महायान का भगड़ा इन्हीं रीतिज्ञों ने चलाया। यह भगड़ा और भेद ही धर्म के अधःपतन की जड़ है। यही कारण है कि धर्म कालान्तर में सी-सी बड़े फनवाले नागों की भयानक आवृत्तियाँ ग्रहण करने लगा। धर्म के प्रतिपादक सर्वदा एक मन और एक लक्ष्य के रहे हैं, लेकिन इनके अनुयायियों की अलग-अलग जीभें हो गईं। अब यहाँ हमें धर्म और धर्मों के बीच के अन्तर पर विचार करना है। धर्मों और धर्म के बीच का अन्तर ठीक वैसे ही है जैसा कि विज्ञान और विज्ञानों, कला और कलाओं के बीच का। लेकिन एक बात यहाँ विचारणीय है कि जहाँ अन्य विज्ञानों में हमें शान्ति मिलती है, धर्मों में गतिरोध एवं परस्पर दुराव मिलता है। विज्ञानों और धर्म के बीच के इस अन्तर में ही हमें धर्म और धर्मों के बीच का अन्तर भी ज्ञात होगा।

प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र विशेष में अपनी रुचि और अपना विस्तार रखता है। उसकी अनबन किसी अन्य विज्ञान से नहीं होती है अभिव्यक्ति के माध्यम में अन्तर होते हुए भी प्रत्येक कला को सौन्दर्य की खोज होती है। वैज्ञानिक और कलाकर अपना व्यर्थ अहं परस्पर एक दूसरे पर थोपते कम देखे जाते हैं। इस दृष्टि से धर्म की स्थिति सर्वथा विपरीत है। यह तो अनुमान और विश्वास के धरातल पर विराजमान होकर सर्वदा सब को अपने से नीचे और छोटे होने का दावा करता है। यह तो रही सभी धर्मों की बात। वैसे प्रत्येक धर्म किसी भी धर्म से अपने को ज्यादा बड़ा समझता है। यहाँ तक कि वह अपने प्रतिद्वन्दी को परास्त करने के निमित्त आग और तलवार का भी आश्रय लेता है। किन्तु धर्म धर्म है, ठीक वैसे ही जैसे सत्य सत्य है, सुन्दरता सुन्दरता है। कोई ईसाई सत्य, बौद्ध सत्य, हिन्दू सत्य अलग-अलग है। यह बात तो कोरे बकवास की है। तत्त्वतः धर्म एक है। वैसे धर्मों की संख्या बहुत है, भूख, प्यास, सत्य, न्याय आदि मानवीय मूल्यों में अन्तर नहीं होता, क्योंकि भूख भूख है, प्यास प्यास है, न्याय न्याय है। किन्तु प्रेम में, न्याय में, सत्य में, धर्म में धर्मों द्वारा भ्रष्टाचार फैलाते देखा जाता है। यह भ्रष्टाचार अपनी शुरुआत इस तथ्य से करता है कि धर्मों का धर्म से कोई संबंध नहीं रह जाता है। बल्कि उनका सम्बन्ध अपने गढ़े सत्यों को किसी भी तरह मनवाने के प्रयत्न से रह जाता है। इन धर्मों की रुचि धर्म में नहीं बल्कि बाजारों की तरफ़ हो जाती है। यहीं धर्म और धर्मों के मध्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं धर्मों की यातना गैलीलियो और बूनों को आग की लपटों में भोंक देती है। यह धर्म नहीं धर्म के नाम पर राजनीति है। इन तथाकथित धर्मों की धार्मिक अड्डेबाजी धार्मिक संस्थाओं में होती है, गोकि धर्म और धार्मिक संस्थाओं में

सम्बन्ध है किन्तु तादात्म्य नहीं है। मानवीय आवश्यकताओं और संस्थाओं में साध्य और साधन का सम्बन्ध होता है। संस्थाएँ साधन हैं और आवश्यकताएँ साध्य हैं, जीवन एकता, पूर्णता और परस्परता के लिए संस्थाओं की ओर भागता है। संस्थाएँ मानवीय अनुभव के साथ जुड़ी होती हैं। इनके द्वारा जीवन को एक गति मिलती है। इस गति को प्राप्त करने के लिए हम प्रेम करते हैं, घर बनाते हैं, सरकार बनाते हैं, न्याय की व्यवस्था चाहते हैं। इन संस्थाओं को हम मानवीय संस्थाएँ कह सकते हैं। इनका कार्य मनुष्य को एक स्तर देना है, लेकिन समाज का दुर्भाग्य रहा है कि धार्मिक संस्थाओं ने सर्वदा मानव समाज को कलह, कुण्ठा और नैराश्य दिया है। संगठित धर्म और उसकी संस्थाएँ उस तानाशाह फौज की तरह हैं जिसका इस्तेमाल वह अपने स्वार्थों के अस्तित्व की रक्षा के लिए किसी भी क्षण कर सकता है। इन संस्थाओं की यह भटकन धर्म के मूल उद्देश्य की सबसे बड़ी असफलता है। धार्मिक आस्था इन संस्थाओं की स्थापना का मूल कारण है। जो सिवाय इसके कि आस्था है, और कुछ नहीं है। यह धर्मों के अस्तित्व का प्रयत्न है। यह धर्म के माध्यम से कुछ पाने का प्रयत्न नहीं है। धार्मिक आस्था वैज्ञानिक सत्य की तुलना में अपने को सर्वोपरि ठहराती है।

हमारे सामने आज मुख्य प्रश्न यही है कि धार्मिक सत्य और वैज्ञानिक सत्य इन दोनों में से हम किसे चुनें। आज जब हमारे सम्मुख पुराने मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न मुँह बाये खड़ा है, वैज्ञानिक सत्य को चुनना ही हितकर है, क्योंकि इसके आधार स्पष्ट हैं। प्रत्यक्ष प्रयोग, और प्रमाणीकरण वैज्ञानिक सत्य के ये तीन मानदण्ड सहज और ग्राह्य हैं। आस्था एक वैयक्तिक सत्य है जबकि वैज्ञानिक सत्य सर्वमान्य और सार्वभौम है। तर्क महज आस्था की परीक्षा ही कर सकता है, वह किसी के मस्तिष्क से, मन से इसे निकाल कर बाहर तो नहीं कर सकता। वैसे मानवीय वृत्ति में अलग से कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसे धार्मिक कहा जा सके। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यदि हम देखें तो मनुष्य में ऐसी कोई मूल प्रवृत्ति नहीं होती जिसे हम धार्मिक कह सकें। यदि हम धर्म को भय का संवेग से उद्भूत मान लें, जैसा कि प्रो० ल्यूवा का प्रतिपादन है तो भी भय का संवेग धर्म का संवेग साबित नहीं होता, क्योंकि सभी प्रकार के भय धार्मिक भय में निहित हैं, ऐसा तो नहीं है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ एक होती हैं, अन्तर उद्देश्यों के अनुसार उन्हें विकसित करने का होता है। फिर एक सीधा सा तर्कपूर्ण हल यह मिलता है कि हम अपना उद्देश्य काल्पनिक और आधारहीन क्यों बनाएँ? हम जो भी अपना उद्देश्य बनाएँ वह मूर्त, स्पष्ट एवं वैज्ञानिक हो क्योंकि हम एक नये परिवेश, एक नये ढंग, एक नई दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं।

काल गतिशील है इसलिए किसी काल विभाजन को आधार मानकर आधुनिकता से इस प्रश्न को जोड़ना उचित नहीं प्रतीत होता। हम स्वाधीनता, तकनीक, विज्ञान, समता और लोकतंत्र की संवेदना लेकर इस प्रश्न को छुएँ तो अधिक उचित होगा क्योंकि हम नये हैं, आधुनिक हैं। कल जो आयेगा हमसे ज्यादा आधुनिक अथवा अधुनातन होगा जो हमारी कृति पर विचार करेगा, क्योंकि ज्ञान अपनी किसी भी पूर्ण आदर्श अवस्था में अपनी पूर्ण परिणति पर नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार इतिहास का भी कभी अन्त नहीं होता। फिर भी हम इतिहास दोहराने की स्थिति में इतिहास बनाने, तोड़ने या मोड़ने की स्थिति में ज्यादा हैं। बहुत पहले

पेथागोरस कह गया है कि व्यक्ति ही हर वस्तु का मानदण्ड है। मनुष्य ही मूल्यों का जन्मदाता एवं ग्राहक है। यह जगत जो ज्ञेय है उसका आवश्यक सम्बन्ध मानव मस्तिष्क से है। तत्व मीमांसा और धर्म प्रत्यक्ष दृष्टि के विषय नहीं हैं। व्यक्ति का आध्यात्मिक जीवन प्रतीकों में उलभ कर रह जाता है, इसीलिए समसामयिक दर्शन के अग्रगण्य तार्किक भाववादियों ने जिन्होंने भौतिक शास्त्र से प्रभाव ग्रहण कर अनुभववाद के एक विकसित स्वरूप को दर्शन के क्षेत्र में प्रतिपादित किया, दर्शन के क्षेत्र से तत्व मीमांसा को बहिष्कृत कर दिया। इतना ही नहीं वेटगेन्स्टाइन सरीखे दार्शनिकों ने तो सम्पूर्ण दर्शन की व्याख्या वैज्ञानिक, भाषात्मक, विश्लेषण के आधार पर की। दर्शन सामान्य मूल्यों का विज्ञान है यह मानव जाति और उसके अनुभवों के गुणात्मक विकास का मानदण्ड है। धर्म और उसकी पिछलग्गू प्रवृत्तियों से दर्शन ने तो अपना गला बचा लिया है, किन्तु आज की राजनीति चाहते हुए भी अपना गला नहीं बचा पा रही है। ऐसा क्यों नहीं सम्भव हो पा रहा है, इसके भी कारण हैं। राजनीति सभी सामाजिक विज्ञानों और विधाओं के केन्द्र में है। यह सक्रिय और व्यावहारिक रूप से सब की है। पिछले चार सौ वर्षों का योरोपीय इतिहास राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक समृद्धि, बौद्धिक विकास एवं सामाजिक पुनर्सुधार का इतिहास है, लेकिन इसके साथ ही परम्परागत धर्म नैतिकता और समाज भी मन्दगति से अस्तित्ववान् हैं। फिर जब योरोप की यह स्थिति है तो हिन्दुस्तान की अठ्ठारह वर्षों की आजादी के पीछे चार हजार सालों की गुलामी जुड़ी हुई है, जिसने यहाँ के समाज को सड़ाया है। धर्म, जाति-पाँत, समाज और लोकतान्त्रिक विकास के बीच के सब से बड़े रोड़े हैं जो प्रत्येक अग्रगामी चरण को पीछे की ओर खींचते हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की विभाजित करके राज्य करने की नीति की सफलता का मूल कारण धर्मों और उनके आधार पर बनी उनकी पिछलग्गू कुरीतियाँ हैं। सामान्यतया ऐसा अनुभव है कि ज्यादा वर्ण, ज्यादा धर्म और कबीले ही किसी भी देश और उसकी संस्कृति के दुबलेपन के कारण रहे हैं। फिर भी गनीमत है, क्योंकि एक समय था कि राजनीति पूरे तौर पर धर्म के हाथ की कठपुतली थी। राज्य धर्म के नियमों पर चलता था। कहने का मतलब कि राजतंत्र नहीं धर्म तंत्र होता था और आज इन धर्मों से अलग धर्म निरपेक्ष राज्य की बात चल रही है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि धर्म अस्तित्व की बात सोची जा रही है। अगर रूढ़ियों और थोथी परम्पराओं के लिए अस्तित्व की बात सोची जा रही है, तो ठीक ही सोची जा रही है, किन्तु यदि धर्म को एक मानवीय मूल्य के अर्थ में ग्रहण किया जाय तो मानवतावादी धर्म अर्थात् धर्म निरपेक्ष धर्म की बात सोची जा रही है। यही नवीन मूल्य है जिसका संघर्ष पुराने से चल रहा है।

आजकल के ज्यादातर बौद्धिक मानवतावादी धर्म को ही अपना धर्म मानते हैं। राष्ट्रीयता रूढ़िगत धर्म की परम सीमा है। इंग्लैण्ड ही सब कुछ है। जर्मनी ही दुनियाँ में सबसे ऊँचा है। भारत ही सोने की चिड़िया है। यह भाव ही मानवतावादी धर्म की कामियाबी और उसके स्पष्ट नक्शे के बनने में बाधक है। समय की गति के अनुसार मनुष्य ही मूल्यों की निरूपयोगिता की घोषणा करता है, क्योंकि वही उनका सर्जक होता है। धर्म-धर्म जाति-जाति समूह-समूह की लड़ाई में राष्ट्रीयता का प्रश्न अपने स्वाभाविक स्वरूप के अनुसार नहीं उठ पाता था। किन्तु विज्ञान तकनीक की बढ़ोत्तरी, जीवनमान की वृद्धि, उत्पादन के साधनों की व्यापक खोजों

के साथ ही राष्ट्रीयता ने अपना स्वरूप निश्चित किया। धार्मिक एकता के नारे ने राष्ट्रीय एकता का स्थान ग्रहण कर लिया। इसी राष्ट्रीयता ने दो विश्व युद्धों की विभीषिका में मानवमात्र को भोंका, इसलिए इस नारे को भी बदलने की चर्चा चलने लगी और आज जोरों से चल रही है। यह चर्चा ही सार्वभौम धर्म की जनक है। इस प्रकार यह त्रिक समूह से राष्ट्र की ओर चला है और अब विश्व की ओर चल रहा है। यह हालत तब ठीक से आयेगी जब राष्ट्रीय समाज विश्व समाज का दर्पण बनेगा, क्योंकि जब समूह राष्ट्रीय समाज का दर्पण बना, तब राष्ट्र धर्म का उदय हुआ।

—नगेन्द्रमणि

भारत की विदेश नीति और बदलता हुआ विश्व शक्ति-संतुलन

(१) काशी विद्यापीठ के राजशास्त्र विभाग ने भारत में जनतंत्र के कार्यान्वय पर १९-२४ फरवरी, १९६६ तक एक विचार-गोष्ठी चलायी। इस गोष्ठी के एक विभाग में विदेश नीति पर विचार-विमर्श हुआ। यह टिप्पणियाँ मूलतः इसी विचार-विमर्श में एक योगदान के लिए लिखी गयीं। अब 'क ख ग' की गोष्ठी में ये बहुत करके जस-की-तस पेश की जा रही हैं।

(२) चूँकि १९६० के दशक में विश्व शक्ति के सन्तुलन में और संघर्ष की धुरी में अन्तर आया है इसलिए इस दशक में गुट-निरपेक्षता का पहले लंगड़ा-लूला जो भी अर्थ था वह बदल गया है। उदाहरण के लिए, वाशिंगटन-मास्को कभी प्रगट, कभी प्रच्छन्न रूप में एक दूसरे के नजदोक आ रहे हैं, इसलिए अब अमेरिका-सोवियत संघ के दो गुटों में बँटी दुनियाँ सिमट रही है और, वाशिंगटन-पेकिंग-मास्को धुरी पर और नयी दिल्ली-पेकिंग धुरी पर संघर्ष बढ़ने से भारत-चीन के सन्दर्भ में जब वाशिंगटन-मास्को एक धुरी है, और इस दृष्टि से पहले की सैद्धांतिक जड़ताएँ पूँजीवाद-साम्यवाद सम्बन्धी खत्म होनी चाहिए।

भारत की अमरीका नीति या अमरीका की भारत नीति : एक पुनर्मूल्यांकन

(३) पहले तो यह बात नोट करना जरूरी है कि अमरीका स्वतंत्रता के आन्दोलन के दिनों से ही, मतभेदों के बावजूद, भारत का एक स्थायी और भरोसे वाला मित्र रहा है। (४) स्वतंत्रता के बाद, ट्रूमन-डलेस, आइसनहावर के जमाने में अमरीका ने भारत-पाकिस्तान के संबंध में अपनी नीति-निर्धारण में ब्रिटेन को आगे रखा और प्रायः ब्रिटेन की नीति ही अमरीकी नीति बनी। (५) राष्ट्रपति केनेडी के जमाने में यह स्वीकार किया जाने लगा कि ब्रिटेन एक बड़ी शक्ति नहीं रह गया है। इसलिए भारत-पाकिस्तान के बारे में अमरीका को अपनी स्वतंत्र नीतियों पर चलना शुरू करना चाहिए। चीनी आक्रमण के बाद एवरेल हेरिमन और डंकन सैंड्स की यात्रा में यह बदलता हुआ अमरीकी और ब्रिटिश दृष्टिकोण देखा जा सकता है। (६) भारत-पाकिस्तान के इस हाल के सीमा-युद्ध में अमरीका ने पाकिस्तान का साथ एक मित्र देश के नाते नहीं दिया है। पाकि-
क ख ग—११

स्तान को बहुत अधिक रुष्ट किये बिना भी अमरीका भारत-पाक संघर्ष में तटस्थ रहा है। (७) फिर, अगर भारत का बड़ा शत्रु कम्युनिस्ट चीन है और आने वाले दशक में बना रहने वाला है तो इस संघर्ष में अमरीका भारत का स्थायी मित्र बना रहने वाला है। इस दृष्टि से भारत को अमरीकी मित्रता का मूल्य कम नहीं समझना चाहिए और न ही इसे कुछ फ़िकरों के लिए या अन्दरूनी नकली वामपंथी दबाव को तुष्ट करने के लिए अमरीका-विरोध को अपनी नीति का आधार बनाना चाहिए।

भारत-सोवियत नीति

(८) डलेस-स्तालिन युग में जैसे डलेस ने भारतीय “तटस्थता” को अनैतिक माना वैसे ही स्तालिन युग में भी “तटस्थता” या गुट निरपेक्षता को ठीक-ठीक नहीं समझा गया। (९) स्तालिन युग के अन्त में, एशियाई-अफ्रीकी देशों की स्थिति को सोवियत संघ में ज्यादा अच्छी तरह समझा जाने लगा। खुश्चोव-बुलगानिन की यात्रा के बाद सोवियत संघ की विदेश नीति भारत के सन्दर्भ में बदली और इसके साथ ही विदेशी सहायता और व्यापार बड़े पैमाने पर शुरू हुए। (१०) सोवियत संघ ने भारत को कश्मीर के मामले में जितना समर्थन दिया उससे अधिक भारत ने सोवियत संघ को प्रतिष्ठा दी है। (११) सोवियत संघ की भारत-चीन विवाद में स्थिति १९६२ की अपेक्षा बदली है। अब सोवियत संघ कम्युनिस्ट चीन का मित्र देश नहीं ही है, बल्कि शत्रु जैसा ही है।

फिर, सोवियत संघ भारत-पाक सम्बन्धों में अधिक तटस्थ होता जा रहा है। यह तटस्थता ताशकंद वार्ता के आयोजन और संचालन में भी देखी जा सकती है। (१२) ‘ताशकंद भावना’ एशियाई मामलों में सोवियत संघ के अधिक सक्रिय रोल का सूचक है। इस मामले में श्री कोसीजिन ने वही कर दिखाया जो सुरक्षा परिषद् का या श्री गोलडबर्ग का प्रस्ताव था। (१३) जो हो, भारत की विदेश नीति को अमरीका-रूस के शीत-युद्ध के दिनों से स्पष्टतया बदल कर इन दो बड़ी शक्तियों को अपने राष्ट्रीय हित और विश्व परिवर्तन की दृष्टि से ज्यादा नजदीक लाने की कोशिश करना चाहिए। (१४) अमरीका-रूस को साथ लाकर एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमरीका से गरीबी और अशिक्षा को खत्म करने में लगाने का लगातार प्रयास होना चाहिए। (१५) भारत विशेष रूप से जापान के साथ कम्युनिस्ट चीन के प्रभाव को सीमित रखने का सतत प्रयत्न जरूरी है। इस प्रयत्न में अमरीका-रूस की सहायता विश्व शक्ति-संतुलन को कायम रखने में लेने की कोशिश होनी चाहिए। (१६) सोवियत संघ को एशियाई मामलों में बहुत अधिक दखल देने को हमें वैसे ही हतोत्साहित करना चाहिए, जैसे कि हम अमरीका को हतोत्साहित करते रहे हैं। अमरीका के हस्तक्षेप के बजाय सोवियत संघ के हस्तक्षेप या प्रभाव-क्षेत्र को विचार-दर्शन या कठमुल्लापन के कारण बढ़ावा देना ठीक नहीं।

फिर, अगर अमरीका और सोवियत संघ सचमुच एक दूसरे के करोब आ रहे हैं तो इन्हें ऊपर से अपने मतभेदों और विरोधों का स्वांग रचते रहना जरूरी होगा। और अन्दर-अन्दर एक दूसरे के हितों को साधना भी चलता रहेगा। इस खेल को समझना जरूरी है। जैसे, राष्ट्रपति अयूब को ताशकंद वार्ता के टेबुल पर ले जाने में राष्ट्रपति जानसन ने क्या कुछ किया

है ? यह अभी बाहर कौन जानता है ? विचार-दर्शन के मुखौटे का भरम ठोक नहीं । हर हालत में, अमरीका-सोवियत संघ को मिल कर भारत सहित एशियाई-अफ्रीकी-लेटिन अमरीकी महा-द्वीपों और देशों को बाँट लेने की छूट देना अच्छा नहीं । ताशकंद-हनोई-हवाई के बीच क्या कोई अमरीका-रूसी धुरी तो नहीं काम कर रही है ? पेरिंग रेडियो के अनुसार तो यह धुरी है । और इस माने में सोवियत संघ एक 'सह अपराधी की सूरत' पेश करता है । जो हो, इस धुरी की अन्तर्बाह्य परीक्षा करते रहना जरूरी है ।

भारत : कम्युनिस्ट चीन

(१७) वैसे तो भारत की कम्युनिस्ट चीन सम्बन्धी नीति पहले भी तुष्टिकरण और संसर्ग-क्रांतिकारिता की रही है, लेकिन १९६२ के बाद तो भारत-कम्युनिस्ट चीन का प्रश्न एक नये स्तर पर पहुँच गया है । इसलिए भारत कम्युनिस्ट चीन की सदस्यता का समर्थन करना बन्द कर दे । (१८) दो चीन की नीति स्वीकार करे, (१) कम्युनिस्ट चीन, (२) ताइ-वानच्यांग काई शेक का चीन । इसके साथ-साथ पूर्वी-पश्चिमी जर्मनी, उत्तरी-दक्षिणी कोरिया, उत्तरी दक्षिणी वियतनाम को भी । (१९) तिब्बत को मुक्ति के प्रश्न को उठाना जरूरी है, और दलाई लामा को प्रवासी सरकार की मान्यता दिलाने का प्रयत्न और दलाई लामा को अपना पक्ष अधिक सार्थक ढंग से रखने की सहूलियत देना भी । (२०) तिब्बत के इलाकों में स्वतंत्रता और विप्लव की शक्तियों को, खास तौर पर खम्पा लोगों को और सिंकांग के इलाकों को यथासम्भव सहायता देनी चाहिए ।

(२१) (क) भारत की विदेश नीति विदेशी सहायता से बँध जाती है । बहुपक्षीय कूटनीति और सम्मेलनीय कूटनीति में भारत की कूटनीति के पंख बँध गये हैं । (ख) विदेशी सहायता की घूस की रकमों ने भारत को एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमरीका में महान परिवर्तन की भूमिका निभाने से विमुख कर नकलचियों का और आधुनिकीकरण के नाम पर पश्चिम के अनुकरण करने वाले देशों का नेता बना दिया है । (ग) देश के अन्दर इसने भोग-विलास और भ्रष्टाचार को राजनीति को परिवर्तन की कीमत पर बढ़ावा दिया है ।

इसलिए, भारत को संकल्प के साथ विदेशी सहायता के बजाय आत्म-निर्भरता पर जोर देना जरूरी है । इस सिलसिले में कम्युनिस्ट चीन ने १९६० में रूसी विशेषज्ञों और मशीनों की सहायता के बन्द हो जाने पर जैसे अपना काम आप सम्हाला, वह महत्वपूर्ण हो जाता है ।

भारत और राष्ट्रमण्डल

(२२) भारत के राष्ट्रमण्डल में पहले भी रहने का कोई औचित्य नहीं था । लेकिन अब चूँकि ब्रिटेन की वह स्थिति भी नहीं है जो तब थी जब भारत इस राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना था, बल्कि इस सदस्यता ने अमरीका, यूरोपीय महाद्वीप, सोवियत रूस सहित पूर्वी यूरोप से भारत के सम्बन्धों पर बुरा असर डाला है और एशिया-अफ्रीका के भूतपूर्व उपनिवेशों में ब्रिटेन की असंगतियाँ अधिक उभरी हैं, भारत को राष्ट्रमण्डल से अपना सम्बन्ध तत्काल भंग कर लेना चाहिए । (२३) लेकिन विदेश नीति में इस परिवर्तन के पहले देश नीति में, भाषा वगैरह के मामले में अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल और अंग्रेजियत का तत्काल अन्त जरूरी है । एक के बिना दूसरे का अन्त असम्भव है ।

समीक्षा

तिलस्मी खोह, लाल कुहरा और रक्तालोक पुरुष

मुक्तिबोध या कोई स्तर का कवि काव्य की समूची जीवंत परम्परा को आत्मसात् करते हुए अपने समय की समस्याओं से जूझता है। नई पीढ़ी के कवियों को, जो परंपरा को नकार कर, युद्ध की स्थिति से अन्यमनस्क होकर, शाश्वत साहित्य की वकालत करने लगे हैं, उन्हें मुक्तिबोध से सबक लेना चाहिए। सम-सामयिक होते हुए भी साहित्य उसका अतिक्रम कर जाता है। अपनी नई पीढ़ी के प्रति मुक्ति बोध को जो अटूट आस्था है वह उसे वाल्मीकि तथा 'कुमारसंभव' के कालिदास की परंपरा से जोड़ती है। आधुनिक युग में वह छायावादी रोमानियत, प्रगतिवादी दृढ़ता और प्रयोगवादी वैयक्तिक चेतना, बौद्धिकता, दर्द आदि से अपना निर्माण करता है। नए ज्ञान-विज्ञान ने भी उसकी निर्मित में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। इसका मतलब नहीं है कि उपयुक्त प्रभावों में वह जीता है। अर्थ यह है कि वह अपने स्नायुओं से पूर्ववर्ती काव्य-संपदा को भर कर नवीन काव्य परंपरा को समृद्ध करता है, उसे आगे बढ़ाता है, बल और स्फूर्ति प्रदान करता है, उसे युगानुरूप नया रूपाकार देता है। अज्ञेय की परंपरा कुछ और ढंग की है जो रहस्य-चेतना से धूमिल है। उनकी नामानुरूप आंशिक रूप से अज्ञेय है। उनकी व्यक्ति चेतना इतनी अहं-संपृक्त है कि वह नदी का

द्वीप बन कर रह जातो है। वह बौद्धिक अधिक है मुक्त कम। मुक्तिबोध के इस संग्रह के आ जाने से नई कविता का पुनर्मूल्यांकन अपेक्षित हो जाता है। इसके प्रकाश में कवियों को नए अनुक्रम में बाँधने की आवश्यकता आ पड़ी है।

अंधेरे में प्रकाश : प्रकाश में सत्यान्वेषण

आज के युग को अंधेरे ने अपनी गुंजलक में इस प्रकार बाँध रखा है कि आँख वालों को भी कुछ नहीं सूझता, अंधों की तो बातें ही जाने दीजिए। यदि उनसे पूछा जाय कि सत्यान्वेषण के नाम पर तुमने किस सत्य को अन्वेषित किया है, किस मूल्य को उपलब्ध किया है तो उत्तर में उनके चेहरे पर खोखले दंभ की आकृतियाँ उभर आयेंगी। संभव है वे 'व्याज गर्व' या 'मिथ्या विनय' के साथ कोई दार्शनिक नाम लें और अपनी रहस्यवादी गद्य शैली में समझा दें। लेकिन अंधेरे से अंधेरा नहीं जाता मुक्तिबोध अंधेरे में चक्कर काटता है, दीवारों से टकराता है, लहलुहान हो जाता है लेकिन ज्योतिर्मयी मणियाँ भी खोज निकालता है यदि वे हाथ न लगे तो चकमक पत्थर ही खोज निकालेगा—उसे तो आग पैदा करनी है! इसके प्रकाश में जिस सत्य को अंधेरे ने अपने कई पतों में छिपा रखा है वह अनावृत हो उठेगा।

१. चांद का मुंह टेढ़ा है, मुक्तिबोध, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ।

मुक्तिबोध की कविता में रहस्यों की कमी नहीं है। 'एक साहित्यिक की डायरी' में वह लिखता है 'मुझे लगता है कि भूमि के गर्भ में कोई सरोवर है। उसके किनारे पर डरावने घाट, आतंककारी देवमूर्तियाँ और रहस्यपूर्ण गर्भ कच्चों वाले देवमंदिर हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व एक गहरा रहस्य है.... मैं किन्हीं गुफाओं के अंधेरे में चल रहा हूँ और कहीं से (किसी स्त्री की) मर्मभेदी पुकार मुझे सुनाई दे रही है....।' अंधेरा....और अंधेरे में सुनाई पड़ने वाली मर्मभेदी पुकार उसके जीवन में है और कविता में भी। मर्मभेदी पुकार का सुनना उसका 'विज्ञान' है। उसकी काव्य-प्रक्रिया को समझने के लिए भी अंधेरा और अंधेरे की 'मर्मभेदी' चीख को विश्लेषित करना होगा।

टेरर, प्रतीक और मिथ

यदि नई कविता के प्रतीकों को छाँटा जाय तो मुक्तिबोध के प्रतीक अन्य कवियों के प्रतीकों से भिन्न मिलेंगे—रूपाकार में, इसलिए अर्थवत्ता में भी। एट्स ने कहीं लिखा है कि गहन जीवन-दर्शन की उपलब्धि 'टेरर' से होती है। हमारे पैरों से नीचे की धरती खिसक जाती है उसके स्थान पर गुफा-गह्वर बन जाते हैं। फिर तो ज़िन्दगी की वास्तविकता ईश्वर, आत्मा, मूल्य-चेतना जाने क्या-क्या प्रश्न उभरने लगते हैं। दृष्टा कवि उनका उत्तर खोजता है।

नई कविता का एक प्रिय प्रतीक है—चक्र-व्यूह। इसमें सन्देह नहीं कि यह आज के युग-बोध को पूरी तरह से अभिव्यक्त करता है। अज्ञेय ने मछली, सेतु, सागर आदि को भी प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। इनके माध्यम से 'अन्वेषी स्वयं अपने अहंकार से उत्पन्न पूर्वग्रहों की छाया के पार देखता है।'

क ख ग—११

और 'निस्संग साक्षात्कार करते हुए विस्मय की गहराइयों में डुबकियाँ लगाने लगता है।' मुक्तिबोध जीवन को काँच में न देखकर सीधे देखता है। इसलिए उसके फोकस में आज की ज़िन्दगी उभरती है अखंड और अविभक्त। अज्ञेय के प्रतीक अपने आप में विस्मय की सृष्टि भले ही कर लें किन्तु वे व्यापक जीवन के बुनियादी सवालों को नहीं उठाते।

मुक्तिबोध के कुछ प्रतीकों को लें—ब्रह्मराक्षस ओरांग-उटांग, चकमक पत्थर, चंबल की घाटी आदि। ब्रह्मराक्षस आरकेटाइप प्रतीक है जो युगोन ट्रैजिडी का बोध जगाता है और यह बोध मूल्यों के अन्तर संबंधों की ओर ले जाता है। प्रतीक आरकेटाइप हो अथवा न हो इसका विशेष महत्व नहीं है। मेरे खयाल से अर्थगर्भ प्रतीक की पहचान तीन प्रश्नों के उत्तर से होती है—१. क्या वह वैयक्तिक विजन की सृष्टि है? २. क्या उसे काव्यात्मक संदर्भ मिला है? ३. क्या वह मूल्यों का अंतर संबंध स्थापित करता है?

'ब्रह्मराक्षस' को कवि ने अपना वैयक्तिक विजन देकर उसे व्यक्ति और समष्टि दोनों की ट्रैजिडी का प्रतीक बना दिया है। इसके साथ-साथ चलने वाले अन्य प्रतीक सूनी बावड़ी, जोना आदि ब्रह्मराक्षस को मिथ बना देते हैं। और मिथ विचारों की अनेक पतों को खोलता है। काव्यात्मक संदर्भ का तात्पर्य है कि कविता पूरी सेटिंग में—अनुभूत्यात्मक विचारों से प्रतीक सहित कितनी व्यापक और जीवंत है। प्रतीक अलंकार नहीं है। अलंकार काव्य का शोभाकर धर्म है तो प्रतीक उसका मूल्यगत धर्म। ब्रह्मराक्षस अचेतन-चेतन मन के स्तरों पर आज के संत्रास, अकेलापन, पीड़ा को उजागर करता हुआ उन्हें रचनात्मक अर्थ देता है।

काव्य-प्रक्रिया

जैसा संकेतित किया जा चुका है, मुक्ति-बोध का केन्द्रवर्ती प्रेरक तत्त्व 'टेरर' है। यह ऐसा आसुरी और संत्रासपूर्ण है कि मानवीय मूल्यों और सौन्दर्य-चेतना को सहज ही विघटित कर देता है और समस्त वातावरण को सनसनीखेज बना देता है। इस 'टेरर' से जो माहौल पैदा होता है वह स्वयं में वक्तव्य वस्तु नहीं है। इसमें सबसे ज्यादा महत्व वक्तव्य का ही है !

मुक्तिबोध इस टेरर में भोक्ता स्वयं है। एक साहित्यिक की डायरी में उसने लिखा है—'मुझे लगता है कि भूमि के गर्भ में कोई सरोवर हैं। उसके किनारे पर डरावने घाट, आतंककारी देवमूर्तियाँ और रहस्यपूर्ण गर्भ कचों वाले देवमंदिर हैं।....मनुष्य का व्यक्तित्व एक गहरा रहस्य है....मैं किन्हीं गुफाओं के अँधेरे में चला जा रहा हूँ और कहीं से (किसी स्त्री की) कोई मर्मभेदी पुकार मुझे सुनाई दे रही है....।' मुक्तिबोध गुफाओं के अँधेरे में भटकता है। यह अँधेरा उसका भी है और आज के युग का भी है। किन्तु वह अँधेरे के माध्यम से 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की तलाश करता है। वह विवर के अन्तराल में लाल कुहरा और लाल कुहरे में रक्तालोक स्नात पुरुष देखता है।

पर ये डरावने घाट, अंधे तिलस्मी खोह, मृतात्माओं का जुलूस, बिल्लियों के नाखून, स्याह समुन्दर, धड़ाके की अनुगूँज, मोरियाँ, मोनारें, किरणिला दीप्त पत्थर आदि क्या है ? क्या ये स्नायविक हैं ? क्या ये विचित्र व्यक्ति की फ्रैटेसी हैं ? निश्चित ही नहीं। ये प्रभूत रूप से अर्थ-संपन्न हैं। जुंग की भाषा में ये 'प्रोमोर्डियल विजन' के सबूत हैं।

फ्रैटेसी की चर्चा अभी अभी की गई है। यहीं यह देख लेने की आवश्यकता है कि उसकी फ्रैटेसी का स्वरूप क्या है और वह किस हद तक उसकी काव्य-प्रक्रिया में योग देती है। अपनी डायरी में उसने लिखा है—कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुःखते हुए मूल्यों से पृथक् हो जाना और ऐसी फ्रैटेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फ्रैटेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फ्रैटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फ्रैटेसी अपने मूलरूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। जो फ्रैटेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक् होकर अर्थात् उनसे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक होगी। यद्यपि यह स्थापना मौलिक नहीं कही जा सकती है फिर भी फ्रैटेसी शब्द का प्रयोग उसकी अपनी सर्जन-प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। फ्रैटेसी का मनोवैज्ञानिक अर्थ है—रचनात्मक काल्पनिक क्रिया का वह रूप जिसमें बिंबों या बिंबा-बलियों को बहम या तात्कालिक सुखानुभूति द्वारा निर्देशित और नियंत्रित किया जाता है। प्रथम क्षण में कवि जिस टेरर का आवेगात्मक अनुभव करता है वह फ्रैटेसी द्वारा प्रत्यक्षीकृत होती है। फिर तो उसके सामने जीवनानुभवों की रील खुलने लगती है। यह रील वैयक्तिक है, किन्तु रचना अपनी संपूर्णता में निर्वैयक्तिक

ही उठती है ! उसने खुद लिखा है—
 कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में,
 उमग कर,
 जन्म लेना चाहता फिर से,
 कि व्यक्तित्वांतरित होकर,
 नये सिर से समझना और जीना
 चाहता हूँ, सच ।

उसकी समस्त काव्य-प्रक्रिया को एक जबरदस्त बवंडर कहा जा सकता है, जो अनेक वस्तुओं को अपने में बेतरतीब ढंग से समाहित कर लेता है । किंतु उस बवंडर की अपनी एक रूपाकृति बन जाती है ।

इस गडुमगडु के भीतर कहीं-न-कहीं एक ज्योति के दर्शन होते हैं, यह किंचित रहस्यमय है । कवि इसी ज्योति-पुरुष की खोज में है, उसकी अभिव्यक्ति की पूर्णता में कवि की पूर्णता है । तिलस्मी खोह के लाल मशाल के प्रकाश में इसी का चित्र उभरता है—

वह रहस्यमय व्यक्ति
 अब तक पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है,
 पूर्ण अवस्था वह
 निज संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रति-
 भाओं की
 मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,
 हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
 आत्मा की प्रतिमा ।

‘इस चौड़े ऊँचे टीले पर’ में भी ज्योति-पुरुष मौजूद है । एक स्वप्न कथा में उसे ही ज्योतिमुख के रूप में पहचाना जा सकता है । ‘भूल-गलती’ में संकल्पधर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर ‘भिन्न नाम-रूप’ में वही है । ‘पता नहीं’—का शक्ति पुरुष जो आसमान थामने को क्षमता रखता है, ज्योतिपुरुष ही है । गरज यह कि अनेक रूप-रंगों में वह दिखता और गायब होता रहता है । इसी ज्योति-मुख के

क ख ग—११

आधार पर उसे अपने अस्तित्व का बोध है । यह वह खुद है । उसकी काव्य-प्रक्रिया को फ्रैंटेसी का यह सबसे अधिक गतिमान तत्त्व है । सर्जना के दूसरे क्षण से आरम्भ होकर तीसरे क्षण की अन्तिम परिणति तक यह चलता रहता है ।

अन्वेषित सत्य

नई कविता के दर्शन पर प्रश्न चिह्न-सा लगाते हुए मुक्तिबोध ने अपनी डायरी में लिखा है—‘जो पुराना है, अब वह लौट कर आ नहीं सकता । लेकिन नए ने पुराने का स्थान नहीं लिया । धर्म-भावना गयी, लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आई । धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनुशासित किया था । वैज्ञानिक मान-वीय दर्शन ने, वैज्ञानिक मानवीय दृष्टि ने धर्म का स्थान नहीं लिया । इसलिए केवल हम अपनी अन्तः प्रवृत्तियों के यन्त्र से चालित हो उठे । इस व्यापक उच्चतर सर्वतोमुखी मानवीय अनुशासन की हार्दिक सिद्ध के बिना हम ‘नया’ ‘नया’ चिल्ला तो उठे, लेकिन वह ‘नया’ क्या है—हम नहीं जान सके । क्यों ? नया जीवन, नए मानव-मूल्य, नया इंसान परिभाषाहीन और निराकार हो गये । वे दृढ़ और व्यापक मानसिक सत्ता के अनुशासन का रूप धारण न कर सके । वे धारण न कर सके । वे धर्म और दर्शन का स्थान न ले सके ।’ नई कविता के कवियों ने इसी निराकार को अभिव्यक्त किया है ।

यह सच है कि आज सर्वत्र एक प्रकार की उद्देश्यहीनता व्याप्त हो उठी है । एक अजीब तरह की पीड़ा में पड़ा मनुष्य कराह रहा है । लेकिन इसी को सत्य मान लेने पर मानवीय नियति का क्या होगा ? वस्तुतः इस दुःख, दैन्य और पीड़ा से जूझने पर ही मान-वता के प्रति आध्यात्मिक रुचि का आविर्भाव

हो सकता है। इसके लिए बहुत जरूरी है कि हम अपने अहं को विसर्जित करें। लेकिन हुआ है ठीक इसका उलटा—

सत्य के बहाने

स्वयं को चाहते हैं प्रस्थापित करना

अहं को तथ्य के बहाने।

पर मुक्तिबोध को व्यथा का मूल्य खूब मालूम है। वह पूरी जिन्दगी इसी में जीता रहा है। ब्रह्मराक्षस के साथ यही द्वन्द्वकत थी कि वह इसे मूल्यों से नहीं बाँध सका। वह अपनी आन्तरिकता का महत्त्व नहीं समझ पाया। वस्तुतः इस आन्तरिकता को आज के डेरर में जो मूल्य दिया गया है वही उसको उलब्धि है, वही उसका अन्वेषित सत्य है।

यह आन्तरिकता क्या है? मेरे विचार से जीवन को विशिष्ट अर्थ देना ही आन्तरिकता है। दार्शनिक और कवि के जीवन-बोध और तज्जन्य परिणतियों में फर्क होता है। पहले की चिन्तन-प्रक्रिया चेतन स्तर पर होती है। दूसरे कि चिन्तन प्रक्रिया बहुत कुछ अचेतन स्तर पर चलती है। फलतः जहाँ पहला तर्कपूर्ण भाषा का व्यवहार करता है, वहाँ दूसरा चित्रमयी या प्रतीक भाषा का। पहला जीवन के सिद्धान्त या सिद्धान्तों की पद्धति बनाता है, वहाँ दूसरा सीधे जीवन को सम्बोधित करता है।

पार करो पर्वत संधि के गह्वर,

रस्सी के पुल पर चल कर

दूर उस शिखर-कगार पर स्वयं ही पहुँची

रस्सी के पुल पर चलने का जोखिम उठा

कर ही शिखर कगार पर पहुँचा जा सकता

है। रस्सी के पुल पर चल कर शिखर-कगार

तक पहुँचने का तकाजा ही आन्तरिकता है,

अन्वेषित सत्य है।

इस कवि का सत्य टूटने में नहीं है, बल्कि टूटने को अर्थपूर्ण बनाने में है—

अपने ही दर्रा के

लुटेरे इलाकों में जोरदार

आज जो गिरोह है

पाड़ित जनों को

जन साधारण को उनकी ही टोह है।

पूर्ण विनाश अनस्तित्व उनका

तुम्हारे निजत्व का चरम विकास है।

इसलिए, ओ दृषद्-आत्मन्

कट जाओ, टूट जाओ।

टूटने से विस्फोट-शब्द जो होगा

गूँजेगा जग-भर,

किंतु, अकेली को, तुम्हारी ही वह सिफ्रं नहीं होगी कहानी।

नई कविता की प्रदर्शनी में यदि मुक्तिबोध को रचनाएँ रख दी जायें तो अपने कथ्य और रूपाकृति के कारण वे बिल्कुल अलग मालूम पड़ेंगी। यों प्रत्येक कवि की कृति का अपना अस्तित्व होता है पर बिल्कुल अलग अस्तित्व का होना दूसरी बात है। छायावादी कवियों की कविता में ठीक यही स्थिति निराला की है। छायावाद के निराला से इतर कवियों में आंशिक एकरूपता मिल जाएगी पर निराला की प्राणवत्ता, रूपाकार भिन्न है।

सन् १९४३ के बाद हिन्दी कविता में जो पैटर्न अपनाया गया वह अपने छंद-बंध, शब्द-योजना, बिंब-प्रतीक-विधान आदि में बहुत रूढ़ और रीतिबद्ध हो गया है। उस पर स्पष्ट रूप से एक प्रकार के आभिजात्य, अधिक जगहों पर सूडो आभिजात्य की छाप है। मुक्तिबोध इस अभिजात्य से मुक्त हैं। उन्होंने बौद्धिक दर्द को नहीं बल्कि सामान्य जीवन की समस्त कटुताओं से गह्रा संवर्ष किया है, उनको भोगा है, भेला है। उनकी गहरी संवेदनशीलता और पैनी बौद्धिकता ने उनकी अनुभूतियों को जो काव्यरूप दिया है वह जावन के नए यथार्थ से संसृजित तथा तवीन मूल्य चेतना से अनुप्राणित है। अन्य कवियों

से उनका कथ्य कुछ ऐसा भिन्न है कि उसे नई कविता की रीतिबद्धता को तोड़ना पड़ा है। लेकिन एक रीति को तोड़ कर उन्होंने दूसरी रीति (रेहटारिकल पैटर्न) का निर्माण किया। फलस्वरूप उनमें विविधता को कमी आ गई है।

वह भावानुप्रेरित बौद्धिकता को बोध के कई स्तरों पर अभिव्यक्त करता है, सिने रोल की तरह। एक-एक रोल में अनेक खंड दृश्य जुड़े रहते हैं जो कुछ विचित्र किंतु स्पष्ट, ताजे और अर्थपूर्ण होते हैं। वस्तुतः उसकी कविता में जो सान्द्रता, द्वन्द्वात्मकता मिलती है वह पाठकों को उसकी संपूर्ण आवेगात्मकता में (कैनेस्थेटिकली) लय कर लेती है। निराला की कविता का निर्बन्ध आवेग मुक्तिबोध को कविता में आकर स्नायविक तनावों से युक्त हो जाता है और संपूर्ण कविता एक प्रकार की वैद्युत गतिमयता से परिचालित हो जाती है। आभिजात्य निष्क्रिय बौद्धिकता उसे पसन्द नहीं है। उसके स्थान पर, कुछ देर के लिए वह गड्ढमड्ड (कम्प्यूजन) भी चाह सकता है, बशर्ते वह क्रियात्मक हो। वह टेरर और अराजकता के बीच से गुजरता हुआ एक क्रियात्मक परिणति पर पहुँचता है। वह परिणति जितनी उसकी अपनी है उतनी ही दूसरों की भी।

‘भय, आतंक, अनिश्चय, जिज्ञासा, कुतूहल और समाधान, घबराहट और दुश्चिन्ता’ आदि को अभिव्यक्त करने की कोशिश रूपात्मक होगी। इसके लिए आवश्यक है कि काव्य में कथा का आभास मिले। मुक्तिबोध की रचनाओं की यह सार्वत्रिक विशेषता है। वे काव्यरूपक नहीं हैं, रूपात्मक काव्य हैं।

ब्रह्मराक्षस के संबंध में लिखते समय उसने कहा है—‘पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा।’ ब्रह्मराक्षस वह स्वयं है और उसकी क ख ग—११

सभी कविताएँ प्रतीकों में कही गई हैं। ये प्रतीक अलग-अलग भी हैं और पूरे बन्द में भी। एक-एक भाव खंड का एक विवरणात्मक बिंब बनाता है और फिर पूरा बिंब प्रतीक हो जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

अचानक आसमानी फ़ासलों में से
चतुर संवाददाता चाँद ऐसे मुसकराता है
कि मेरे स्याह चेहरे पर
निलाई चमचमाती है।
समुन्दर है समुन्दर है।
गरजती इन उफनती में मैं
किसी वीरान टावर की
अँधेरी भीतरी गोलाइयों के बीच
चक्करदार जोना एक चढ़ता हूँ उतरता हूँ।

घषाघष पैर की आवाज
है नाराज निज से ही।

स्याह चेहरा, समुन्दर, वीरान टावर, चक्करदार जोना अलग-अलग प्रतीक हैं। पर सब मिला कर यह कथात्मक बंद एक प्रतीक बन जाता है। इन प्रतीकों से एक टेरर उत्पन्न होता है जिसमें व्यक्ति की जिजीविषा की अनुगूँज सुनाई देती है।

भाषा उसकी संस्कृतनिष्ठ है—निराला की भाषा की तरह। जहाँ तक ऊर्जा के सर्जन का प्रश्न है मुक्तिबोध निराला के उत्तराधिकारी हैं पर निराला में विषय-वस्तु, भाषा, शैली आदि की जो विविधता दिखाई देती है वह मुक्तिबोध में नहीं है। अँधेरा इनका अपना है और ज्योति उन्हें निराला से प्राप्त कही जा सकती है। इनकी कविता में जहाँ तक रंगों का सवाल है मुख्यतः दो ही रंग दिखाई देते हैं—‘श्याम और श्वेत, अँधेरा और प्रकाश।’.....सहज मानवीय आकांक्षाओं की पूर्ति के सामाजिक वातावरण के अभाव में, उसके काव्यात्मक रंग अधिक श्यामल

बोझिल और अधिक आत्मग्रस्त हो जाते हैं। 'हाँ तो मैंने अपनी एक कविता में (अनेक कविताओं में) उन्हीं काजली रंगों का प्रयोग किया है। अन्तर केवल यह है कि इस श्यामलता के कार्य-कारण संबंध भी वहाँ प्रस्तुत किए गए हैं।' जल चाहे समुद्र का हो, नदी का हो, बावड़ी का हो सर्वत्र स्याह है। इस अँधेरे में कहीं मणियों की ज्योति दिखाई देती है तो कहीं लाल मशाल, अंगारे विद्युत की चका-चौंध। ये सभी ज्योतियाँ उसी की हैं जो एक स्थिति में मणि-द्युति है, दूसरी में लाल मशाल तो तीसरी में अंगारों की चिनगारियाँ।

वातावरण निर्माण में उसका रेहटारिक कहीं-कहीं जरूरत से ज्यादा लंबा हो जाता है जिसमें बहुत से भर्ती शब्द या निरर्थक विशेषण भर जाते हैं। पर समग्रतः मुक्तिबोध ने शब्दों, ध्वनियों, लयों को नया अर्थ देने का प्रयास किया है—यह नया अर्थ निराकार नहीं है, पूरा साकार, ठोस और समर्थक है। उसने अपने युग की खोखली मान्यताओं को नंगा कर दिया है। और इसके लिए उसे भारी मूल्य भी चुकाना पड़ा है।

—बच्चन सिंह

रंगमंच और नाटक की भूमिका

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

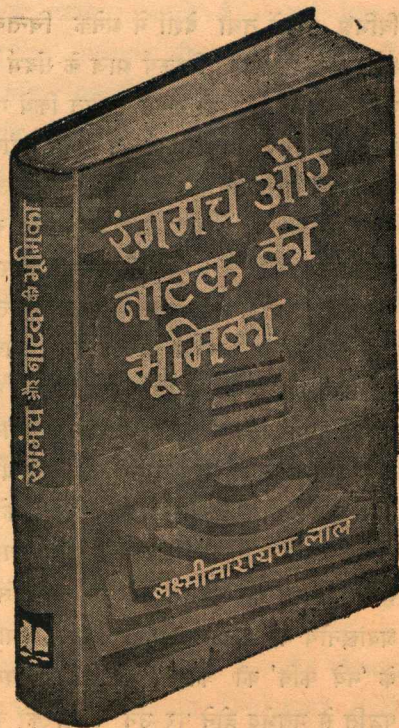
मूल्य १०-००

सम्पूर्ण अर्थ में रंगमंच क्या है? इसकी रीति, प्रकृति, प्रक्रिया और धामिताएँ क्या हैं? भारत और पश्चिम का प्राचीन और मध्ययुगीन रंगमंच क्या है? दोनों की कला-परम्परा और इतिहास क्या है?

इन तथा अन्य अनेक अछूते प्रश्नों को उठाने और उनसे साक्षात्कार करने वाली समस्त भारतीय भाषाओं की पहली पुस्तक। डिमाई साइज में अनेक दुर्लभ व महत्वपूर्ण फोटोचित्रों सहित। कपड़े की पक्की जिल्द।

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली-७



पत्र-प्रतिक्रियाएँ

आपका कृपा पत्र कई दिनों पहले प्राप्त हुआ था। अत्यधिक व्यस्त होने से उत्तर शीघ्र न दे सका। आपके प्रश्नों पर आज विचार किया है और उत्तर लिख रहा हूँ। इन प्रश्नों पर मैं काफ़ी पहले ही—आपका पत्र आने के पूर्व भी विचार कर चुका हूँ।

अपने लेख में मैंने अनेक समयों और स्थानों के विचारकों के कथन इसलिए उद्धृत किए हैं कि मैं यह कहना चाहता हूँ कि कविता के स्वरूप और मूल तत्वों के सम्बन्ध में अनेक कालों और स्थानों के बहुत से सुधी समीक्षक-विचारक प्रायः एक मत हैं और विभिन्न समयों तथा देशों में अनेक चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत समान निष्कर्ष आज के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण हैं। जो कथन उद्धृत किये गये हैं वे प्रासंगिक विचार खंड न होकर प्रायः सुनिश्चित मान्यताएँ हैं। मुक्त मौलिक चिन्तन सदैव स्पृहणीय है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार है। मुझे भी उसका व्यसन है। परन्तु चार प्रौढ़ मस्तिष्कों का चिन्तन (उनका समान निष्कर्ष प्रस्तुत करने वाला चिन्तन) एक युवक के चिन्तन से निश्चय ही अधिक परिपक्व और विश्वसनीय होता है। अतीत या अपने समय के कुछ प्रौढ़ विचारकों की विचार-पद्धति को कोई व्यक्ति यदि अपने चिन्तन के अनुकूल पाता है तो उनका मत उद्धृत करना उसके लिए अवांछनीय या अशोभन नहीं है। फिर आज के 'नये कवि' की काव्य दृष्टि और रचना पद्धति से मतभेद होने पर उन विचारकों का मतोद्धरण और भी आवश्यक है जिनका वह

अनुयायी है, परन्तु ज्ञान या अज्ञान में जिनकी अनेक महत्वपूर्ण बातों की वह उपेक्षा कर रहा है।

(१) आपका पहला प्रश्न 'काव्य को साहित्य की व्यापक अभिव्यक्ति के रूप में ही जब माना जायगा, तो अन्य विधाओं की अभिव्यक्ति के साथ रख कर ही उसे क्यों न देखा जाय ?'

कविता (या काव्य) साहित्य की व्यापक अभिव्यक्ति के रूप में—सामान्य साहित्यिक अभिव्यक्ति या समग्र साहित्य के अर्थ में—कहाँ स्वीकार की गई है। केवल क्रोचे जैसे कुछ कलासमीक्षक और उनके अनुयायी विजयदेव नारायण साही जैसे कुछ आधुनिक चिन्तक कला के विभाजन और वर्गीकरण को अस्वीकार कर कला को अखंड-अविभाज्य सृष्टि बताते हैं। यदि आप भी क्रोचे के अनुसार साहित्य मात्र को एक मानते हैं तो कविता, कहानी, नाटक, निबंध आदि भेद और नाम आपको अस्वीकार करने होंगे और तब समग्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक ही नाम रह जायगा—'साहित्य रचना' या 'साहित्यिक रचना'। परन्तु जब तक आप इन विधाओं के पार्थक्य में कोई भी सार्थकता देखते हैं, आपको 'कविता' का इतर व्यावर्तक तत्त्व भी स्वीकार करना होगा। कविता और इतर विधाओं के बीच कुछ भेदक रेखाएँ हमें खींचनी होंगी, उसे अन्य विधाओं की अभिव्यक्ति के साथ रख कर नहीं देखा जा सकेगा। कविता की अभिव्यक्ति कहानी आदि की अभिव्यक्ति से अभिन्न नहीं है। ये विधाएँ

मूलतः 'साहित्य' होने पर भी—बहुत कुछ समान होने पर भी रूपाकार में और उसके साथ मूल तत्त्वों की दृष्टि से भी एक दूसरे से प्रथक हैं। काव्य शब्द अवश्य रसात्मक या सर्जनात्मक साहित्य के अर्थ में अपने यहाँ प्रयुक्त हुआ है परन्तु आज जिसे 'कविता' कहा जाता है और जिसे प्रतीच्य समीक्षक 'पोइट्री' कहते हैं उसे साहित्य की व्यापक अभिव्यक्ति के रूप में कैसे माना जा सकता है ?

(२) आपका दूसरा प्रश्न है 'उक्ति वैचित्र्य, शब्द क्रीडा, वाक्चित्र और खण्ड बिम्ब' नयी कविता में प्राप्त ये प्रवृत्तियाँ सभी युगों के काव्य में रही हैं। फिर इन्हें नयी कविता के दोष क्यों कहा गया और क्यों इन्हें कविता के शाश्वत तत्त्व नहीं माना गया ?

खण्ड बिम्ब को मैंने दोष नहीं कहा है, भग्न बिम्ब को दोष कहा है और प्रायः बिम्ब-विधान को ही साध्य मान लेने और उक्ति-वैचित्र्य, या शाब्दिक खिलवाड़ प्रस्तुत करने को नयी कविता की कमियाँ बताया है। उक्ति वैचित्र्य, चमत्कार सृष्टि या साध्य भूत शब्द शिल्प (भाषा का विचित्र प्रयोग की) काव्य की प्रकृति के विरुद्ध और काव्यक्षेत्र के बाहर की—साहित्यिक कारीगरी की—चीजें हैं और प्राचीन काल या अनेक देशों के तथा-कथित 'काव्य' में होने पर भी वे अच्छी चीजें या काव्यापयोगी प्रवृत्तियाँ नहीं मानी जा सकतीं। अतीत और आज की उन समस्त रचनाओं को जिनमें ये प्रवृत्तियाँ हैं हम कविता नहीं कह सकते। बाण, सुबंधु, माघ, भारवि, श्री हर्ष या हिन्दी के रीतिकालीन अथवा आधुनिक रचनाकार उन-उन स्थलों पर कवि नहीं हैं जहाँ उन्होंने इन प्रवृत्तियों को अपनाया है। कविता अनुभूति की शाब्दिक कला-

त्मक अभिव्यक्ति है, यह शायद आप भी मानते हैं। इसलिए मात्र वाक्चित्र या मात्र शिल्पचेष्टा जो किसी अनुभूति को संप्रेषित नहीं करती कविकर्म नहीं है। वाक्चित्र या बिम्ब काव्य-प्रक्रिया में साधन ही है, साध्य नहीं।

(३) तीसरा प्रश्न है—'राग या हृदय-तत्त्व क्या है, इससे कविता क्यों और कैसे बन जाती है ? किस कवि का काव्य-सौंदर्य हृदय से ग्रहण किया जाता है या किया जा सकता है। राग के स्तर पर काव्य-सौंदर्य कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?'

राग या हृदय तत्त्व से मेरा अभिप्राय हार्दिक अनुभूति और हृदय-स्पर्शिता से है। इसके (हार्दिक अनुभूति के) होने पर कविता स्वतः अप्रयास बनती है। यहाँ वस्तुतः 'हार्दिक' विशेषण भी प्रायः अनावश्यक है, क्योंकि 'अनुभूति' हार्दिक होती है। अनुभूति यदि सच्ची है तो वह अभिव्यक्ति पायेगी ही, शिल्प का बल-प्रयोग उसके लिए अपेक्षित नहीं है। यही सहज अभिव्यक्ति सच्ची सर्जना है, कला है। शिल्प का आग्रह रचना को कारीगरी बताता है, कलाकृति नहीं। क्रोचे के शब्दों में कहा जाए तो बाह्य वास्तविकता का हमारी आत्मा पर पड़ने वाला प्रभाव (जो निश्चय ही रागात्मक होता है) अनायास सह-जानुभूति, रूप या अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और कला की सृष्टि हो जाती है। फिर तो उसका 'बाह्यकरण' मात्र शेष रह जाता है। इस रागात्मक प्रतिक्रिया या प्रभाव को आप 'अनुभूति' कहिए, 'भाव' कहिए या 'सत्य', यही कविता का मूल और अनिवार्य तत्त्व है। कव्यानुभूति जिसे हमारे पुराने आचार्यों ने 'रस' कहा है और जिसे आप 'पूर्ण मानसिक स्थिति' या 'प्रभाव' कहते हैं हृदय

स्पर्श से शून्य नहीं होती। 'हृदय-संवाद' और हृदय स्पर्शिता कविता के पढ़ने-सुनने से होने वाली अनुभूति (मनःस्थिति या प्रभाव) का अपरिहार्य लक्षण है। जो रचना हृदय को नहीं छूती (उसे कुछ थोड़े से नये कवि भले ही कविता कहें), उसे न अतीत में कविता कहा गया है, न भविष्य में कविता माना जाएगा। कविता में अभिव्यक्ति अथवा सर्जना के स्तर पर तो रागतत्व रहता ही है, पश्चात्य चिन्तकों ने भी emotional element नाम से इसे स्वीकार किया है, सम्प्रेषण या निष्पत्ति के स्तर पर भी उसकी सत्ता रहती है। निष्पत्ति के स्तर पर उसकी सत्ता अभिनय गुप्त आदि अचार्यों ने 'हृदय संवाद' नाम से और पाश्चात्य अनुशीलकों ने emotional touch या satisfaction of emotional urge इन शब्दों से स्वीकार की है। यही emotional element या emotional touch मूलतः रस है।

कविता को मात्र हृदय से ग्रहण करने की बात मैंने कहाँ कही है। निस्संदेह उसका सर्जन और आस्वादन पूरे मन से, बुद्धि और हृदय दोनों के योग से होता है, मानसिक समग्रता उसके लिए अनिवार्य है। मेरी मान्यता यही है कि कविता के सर्जन और भावन दोनों में भावात्मक स्तर का योग अपेक्षित है। रागात्मक स्पर्श जरूरी है। रस भाव का (रागात्मक अनुभूति का) एक रूप ही तो है—उसका व्यक्त परिपक्व या आस्वाद्य रूप ('वासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वण-व्यापाररूपो रसनीयो रसः'—ध्वन्यालोक-कार;... 'वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको... चर्वमाणतैकप्राणो'.... 'स्थायी विलक्षण एव रसः'—अभिनवगुप्त; 'व्यक्तः स तैर्विभावैः स्थायीभावो रसः स्मृतः'—मम्मट 'रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धाः स्थायिनोऽत्र ते'—

क ख ग—११

भोज; 'आनीमयानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः'—धनंजय)।

यह ठीक है कि रसस्थिति एक 'पूर्णमनःस्थिति' है जिसमें बौद्धिक और रागात्मक चेष्टा दोनों का योग होता है, यह भी ठीक है कि यह मानसिक स्थिति या अनुभूति वैयक्तिक राग से मुक्त होने की, सात्त्विक तन्मयता की स्थिति है। परन्तु यह मनःस्थित या अनुभूति मात्र बौद्धिक नहीं हो सकती उसी प्रकार जिस प्रकार कि यह मात्र रागात्मक नहीं हो सकती। रागात्मकता इस स्थिति के लिए और इस स्थिति को उत्पन्न या जागरित करने वाली कविता नामक सर्जना के लिए अनिवार्य है। इस मनःस्थिति की पूर्वावस्था सदैव रागात्मक होती है। काव्य के सर्जन और आस्वादन की प्रक्रिया में राग के निषेध-कों में बहुत सोचने पर भी स्वीकार नहीं कर पाता।

दिल्ली

प्रेमप्रकाश गौतम

तुम्हारा पत्र मिला। सचमुच तुमने साहित्य की समस्या को उठाते हुए अच्छा खासा पत्र लिखा है। मुझे अब ठीक स्मरण नहीं है कि मैंने किस पृष्ठभूमि में सवाल (क्या) उठाए थे, पर तुमने बढ़िया बहस चलाई है। मन होता है कि उसमें पड़ूं, पर यहाँ हाल है कि एक बार किसी पत्र का उत्तर देना स्थगित हुआ तो उसका मौका आ सकेगा, यह नहीं कह सकता। तुम जानते हो मुझे कई व्यवस्थाएँ एक साथ देखनी पड़ती हैं। अतः एकआध बात अभी लिख रहा हूँ, अधिक विस्तार से तुम्हारी चर्चा में भाग न ले पाने के लिए क्षमा करना।

१—कोई भी चिन्तक अपनी सीमाओं से आगे नहीं जाता, चाहे अरस्तू और अभिनव हों या रिचर्ड और रामचन्द्र शुक्ल। उनकी बातों को सदा उनके संदर्भ में रख कर ही देखा-समझा जा सकता है। उनके चिन्तन की

विशिष्टता व्यापक और सार्वभौम तत्त्वों को ग्रहण करने की क्षमता मात्र नहीं—वह तो होगी ही और बहुत साधारण बात है—पर विशेष और अप्रतिम को ग्रहण करने में ही है। अतः प्रौढ़ मस्तिष्कों की सुनिश्चित मान्यताओं में व्यापक समानता खोजना या पाना महत्त्व की बात नहीं है। हमारा काम इन प्रतिष्ठितों से मुक्त होकर अपने संदर्भ में चिन्तन की नई संभावनाओं की खोज करना है, निश्चय ही साहित्य की जिस विशिष्टता के मूल्यांकन में हम प्रवृत्त हैं उसमें उनके मत सहायक होने के बजाय बाधक सिद्ध हो सकते हैं। यह अलग बात है कि कभी-कभी उनसे मुक्त होने के लिए भी उनकी गहरी जानकारी अपेक्षित हो।

२—विधाओं की बात साधारण है। विधाओं में रचना-प्रक्रिया की पद्धति का अन्तर होता है, हो सकता है। अनुभव के क्षेत्र और प्रकार का भी अन्तर देखा जा सकता है। पर रचना के आन्तरिक संघटन और अनुभव (अभिव्यक्ति के साथ) की सर्जनशीलता की मौलिक स्थिति समान रूप से सभी विधाओं में अपेक्षित मानी जाएगी।

३—‘उक्ति वैचित्र्य....’ आदि को आज भी कोई ‘मात्र’ कह कर कविता नहीं कहता। मैं समझता हूँ कि यह पद्धति सही नहीं है—शब्द और अर्थ अभिन्न है, यह तो आज की बात नहीं है। चमत्कार पैदा करना कभी भी काव्य नहीं माना गया, सवाल यह है कि क्या जिसे तुम चमत्कार मात्र मानते या देख पाते हो वह और कुछ नहीं है या हो सकता है? पहले किसी प्रयोग को चमत्कार कह देना, फिर अकाव्य प्रमाणित करना उचित तर्क नहीं है।

४—‘राग’ पर कुछ अधिक लिखना चाहता हूँ, पर अभी एक जगह जाना है और पत्र पूरा ही करना चाहता हूँ। क्या कोई ऐसी मानसिक घटना या स्थिति है जिसमें बौद्धिक

और रागात्मक तत्त्व को अलग किया जा सकता है? क्या कोई आज यह कह सकता है कि ‘पूर्ण मनःस्थिति’ में राग तत्त्व का बहिष्कार होगा? अतः रागात्मक स्पर्श की बात ज्यादा दूर ले ही नहीं जाती। मूल प्रश्न है कवि और भावक के अनुभूति के स्तर पर वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त होने का मानसिक प्रक्रिया ‘मात्र’ का सवाल नहीं उठता, कह चुका हूँ। विचार करने की बात काव्यानुभव के वैशिष्ट्य को ग्रहण करने की है। रागात्मक या भावसंकुलता के स्तर पर लोक-गीत, सामान्य गीत (दोनों शुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं माने जाते) और एक सीमा तक प्रगीति काव्य को जरूर माना जा सकता है, यद्यपि प्रगीति काव्य की महत्ता अनुभव को संचरित और संघटित करने में ही है। अन्य काव्य के विविध स्तर रागात्मक नहीं माने जा सकते, आज का काव्य तो कदापि नहीं। एक तो रस को रागात्मक स्तर पर प्रतिष्ठित करना उसे सीमित अर्थ में ग्रहण करना है, दूसरे रस को उसकी युग-सापेक्षता से अलग हर युग के काव्य पर लगाने की चेष्टा काव्य के वैशिष्ट्य की अवहेलना करना है।

पत्रों में बहस चलाना कठिन है, मिलने पर चर्चा करेंगे।

रघुवंश (संपादक)

क ख ग अंक १० सामने है। लगभग सभी कुछ पढ़ चुका हूँ। सर्वप्रथम मैं नीलमणि शास्त्री के दो पत्रों के संबंध में कहना चाहूँगा। क ख ग के अंक ८ में ‘विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव’ पर जो विचार आए हैं वे बहुत ही समसामयिक और लगभग भविष्य के ऐसे घटित सत्य की ओर संकेत कर चुके हैं जिसके परिणाम स्वरूप आज सारा राष्ट्र एक संक्रान्ति की स्थिति से गुजर रहा

है। मैं तो यहाँ तक कहने के लिये तैयार हूँ कि केवल क ख ग ही एक ऐसी पत्रिका है जो तात्कालिक और समसामयिक राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवम साहित्यिक समस्याओं के ऊपर विचार प्रस्तुत कर रही है।

इस सन्दर्भ में अंक १० में प्रकाशित दो निबन्धों की ओर भी ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। रघुवंश का निबन्ध “एशिया का भविष्य और हमारा बौद्धिक दायित्व” तथा ब्रजकुमार पाण्डेय का निबन्ध “बर्मा : स्वतंत्रता और बाद” ये दो लेख आज एशिया की वर्तमान स्थिति के संबंध में बहुत कुछ सही दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। रघुवंश का निबन्ध ऐसे उद्धाटित सत्य की ओर हमें सोचने को मजबूर करता है कि क्या हम वाकई योरोपीय संस्कृति की गुलामी में बुरी तरह जकड़े हुए हैं? आज समस्या किसी समाधान की ओर दृष्टि फैलाने अथवा उस आकाश की ओर ताकने की नहीं, बल्कि उस स्थिति से अवगत होने की है जहाँ हम अपने आप को अनायास ही एक ऐसे विगलित कीचड़ में फँसा हुआ पाते हैं जिससे उबरने के लिए अपनी कमर तक के चारों ओर फैले कीचड़ को हटाने में हम असमर्थ हैं। क्या कहीं ऐसा नहीं महसूस होता कि जिस विदेशी सहायता के नियंत्रण के ऊपर हम पल रहे हैं वही सारे राष्ट्र को शनैः शनैः राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से क़रीब-क़रीब पंगु बना रही है। यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है जो आज सरकारी अन्धदृष्टि को खोलने में यदि तनिक भी समर्थ हुआ तो बात किसी हद तक बनने की स्थिति में होगी। आज भी हमारे खाद्य मंत्री यह कहने से नहीं हिचकते कि गेहूँ आयेगा तो विदेशी ही चाहे देश को बिकना ही क ख ग—११

क्यों न पड़े। पी० एल० ४८० का जिस राजनीतिक शर्त पर आयात किया जा रहा है उससे क्या भविष्य में देश को गिरबी-बन्धक रखने की बात नहीं समझ में आती?

दूसरी बात जो साहित्यिक क्षेत्र में महसूस की जा रही है, वह है आज की सामाजिक, व्यक्तिगत निरर्थकता की स्थिति और शब्द से अधिक हरकत अथवा मुद्रा की अभिव्यक्ति। “भाषा और हरकत पर कुछ और बातें” (विपिन अग्रवाल) तथा “ताज़ी कविता कुछ जोड़ बाकी” (लक्ष्मीकांत वर्मा) इन दोनों निबन्धों को एक सन्दर्भ में रख कर पढ़ने पर मुझे ऐसा लगा कि वास्तव में आज सामान्य-तया जिस भाषा का कविता, कहानी, नाटक और उपन्यास में प्रयोग किया जा रहा है वह विचारों को एक समर्थवाहक के रूप में पाठकों के मस्तिष्क में घुसने में अड़चन पैदा करती है। कारण बड़े-बड़े आडम्बर युक्त शब्द मस्तिष्क के ऊपरी सतह पर तैर कर रह जाते हैं। उनसे भाषा का पारम्परिक सौन्दर्य स्थापित किया जा सकता है—विचारों की प्रगाढ़ता को उपलब्ध कराने में यह एक असमर्थ भाषा साबित हो रही है। और ऐसी स्थिति में आवश्यकता है उस आडम्बरहीन भाषा की जो विचारों एवं अभिव्यक्ति की मुद्राओं को साधारण पाठक, दर्शक को सही परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध कराने में सहायक हो। शब्द वे होने चाहिये जो हमारी मुद्राओं के माध्यम बन कर सीधे हमला करने की स्थिति में हों और उनकी वाहन शक्ति अधिक शक्तिशाली हो। यह तभी संभव है जब बोलचाल की साधारण भाषा का प्रयोग साहित्य में आरंभ हो जाय।

रीवाँ

कृष्णकुमार त्रिवेदी

शुभकामनाएँ

हिन्दुस्तान गैस एन्ड इन्डस्ट्रीज लि०

(प्रो० बिड़ला ब्रदर्स (प्रा०) लि०)

३६ गणेश चन्द्र एवेन्यू

कलकत्ता-१३

क ख ग का अंक ११ बहुत देर से तैयार हो सका है। अनेक कारण और कठिनाइयाँ रहो हैं, पर हम क्षमाप्रार्थी हैं। अगला अंक प्रेस में है और जल्दी प्रकाशित कर सकेंगे।

—सम्पादक

हिमाद्रि ऋंग की पवित्र व स्वच्छ पवन
द्वारा

आ लो डि त

पार्वत्य प्रदेश के अमृत निर्भरों

द्वारा

सि चि त

आसाम के कुंज-वनो की सुगन्धि
से

सु ग न्धि त

चाय उद्यान के लहलहाते पौधों
से

नि सृ त

सुस्वादु पेय को चुस्की का आनन्द
लेना हो तो

आइनाखाल

चाय बगान की चाय का ध्यान
रखिये

आइनाखाल टी कम्पनी

(भुवालका प्रतिष्ठान)

१३५, विप्लवी रास बिहारी बसु रोड
क ल क ता-१

टेलीफोन न० २२-६६११ व २२-८६७६

चाय बगान—आइनाखाल टी एस्टेट

रे० स्टेशन व ठो० मोना चेरा (जिला-बछार) आसाम राज्य

नवीनतम प्रकाशन

डा० लक्ष्मीसागर वाष्पाय
की
दो नवीन कृतियाँ

नई कहानी का परिपाश्वर्

••

२०वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य :: नए संदर्भ

तथा एक अन्य महत्वपूर्ण कृति

डा० हरीश कृत

आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध

•••

साहित्य भवन (प्रा०) लि०, इलाहाबाद



नटरंग

भारतीय रंगमंच का त्रैमासिक

संपादक : नेमिचंद्र जैन

चौथा अंक समकालीन भारतीय रंगमंच पर विशेषांक है। उसकी योजना इस प्रकार है : कुछ प्रमुख रचनाएँ—बंगला, मराठी, उड़िया के व्यावसायिक रंगमंच का सर्वेक्षण हिन्दी रंगमंच और निर्देशक * बंगला और मराठी रंगमंच पर अभिनय शैलियों का त्रिकाण * बहुरूपी : एक अनोखा नाट्य संगठन * गुजराती रंगमंच और लोकप्रिय प्रदर्शन * मलयालम नाटकों में समसामयिक समस्याओं का चित्रण और कला मूल्य * पंजाबी आपेरा : उपलब्धियाँ और समस्याएँ *

प्रमुख लेखक—शंभु मित्र * ई० अल्काजी * सुरेश अवस्थी * आद्य रंगाचार्य * कुमार राय * ध्रुव गुप्त * के० के० मुखर्जी * शांता गांधी * परितोष गार्गी * अमरनाथ पाठक * मोहम्मद हसन *

वार्षिक शुल्क १००० विशेषांक ४०० एक अंक २५०

३ एफ़, जंगपुरा ऐक्सटेंशन, नई दिल्ली-१४

फ़ोन : ७०१६२



‘अणिमा’

(वार्षिक विशेषांक : अक्टूबर-दिसम्बर १९६५)

● अणिमा का करीब ३५० पृष्ठों का वार्षिक विशेषांक नवम्बर के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हो गया है जिसमें हिन्दी, भारतीय और विदेशी भाषाओं के चुने-चुने लेखकों की विविध कथा-विधानों में लिखी रोचक तथा संग्रहणीय रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

कुछ शीर्षक: सपने देखने वाली औरत * भगोड़े पति की डायरी * सड़क पर अँधेरा था * हुगली की एक सुबह * वीर सैनिक के नाम * ढलते दिनों की डायरी * पिता और प्रेमी * एक अधबना पोर्ट्रेट * कामू का दिशा-ज्ञान और हमारी भूखी पीढ़ी * सत्यजीत राय की नयी फ़िल्म ‘नायक’ का चित्र-नाट्य, आदि-आदि।

३५० पृष्ठों के इस विशेषांक का मूल्य मात्र २ रुपये ५० पैसे है। ८) रुपये भेज कर तत्काल वार्षिक ग्राहक बनने वालों को यह विशेषांक बिना अतिरिक्त मूल्य के प्राप्त होगा।

पता : व्यवस्थापक ‘अणिमा,’ ४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता-१



हिन्दी परिषद् प्रकाशन के अभिनव-ग्रन्थ

१. रामकथा : लेखक रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के, द्वितीय संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण । लेखक ने इस पुस्तक का संशोधन और परिवर्द्धन करके इसे सर्वांग सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण बना दिया है । मूल्य २० रुपए ।

२. कबीर ग्रंथावली : संपादक डा० पारसनाथ तिवारी; प्रथम संस्करण । इस प्रबन्ध में अनेक संस्थाओं तथा व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित कबीर वाणी की अनेक हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों का परीक्षण कर लेखक ने कबीर की वाणी का प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है । मूल्य १२ रुपए ।

३. आधुनिक हिन्दी काव्यशिल्प (१९००-१९५० ई०) : लेखक डा० मोहन अवस्थी; आधुनिक हिन्दी कविता के शिल्प-पक्ष का सर्वाङ्गीण विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है । मूल्य ८ रुपए ।

४. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव : लेखक डा० रामसिंह तोमर । मूल्य ८ रुपए ।

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों की विविध परंपराओं का शोधपरक विवरण देते हुए मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर उनके प्रभाव का वैज्ञानिक विवेचन इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है ।

५. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास : लेखक डा० वीरेन्द्र सिंह । मूल्य १२ रुपए ।

६. हिन्दी कोश साहित्य : लेखक डा० अचलानन्द जखमोला

७. तुलसीदास : लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त । संशोधित तथा परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण । मूल्य १६ रुपए ।

८. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : लेखक डा० श्रीकृष्ण लाल । संशोधित तथा परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण । मूल्य १२ रुपए ।

पुस्तकें मिलने का पता :—

हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय हिन्दी परिषद् के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. हिन्दी साहित्य (प्रथम खण्ड) तीन खण्डों में विभाजित हिन्दी साहित्य के इस प्रथम खण्ड में इतिहास के प्रारम्भ से लेकर हिन्दी प्रदेश में हिन्दी भाषा और साहित्य के उदय तक के भूगोल, नृतत्त्व, धर्म, समाज, भाषा और कला-सम्बन्धी सम्पूर्ण इतिहास का पर्यवेक्षण किया गया है । मूल्य १५ रुपए ।

२. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) इस खण्ड में प्रारम्भ से लेकर सन् १८५० ई० तक का हिन्दी साहित्य का इतिहास दिया गया है । मूल्य १६ रुपए ।

३. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक : डा० धीरेन्द्र वर्मा के सम्मान में प्रकाशित 'हिन्दी अनुशीलन' के इस विशेषांक में भाषा, साहित्य और संस्कृति से सम्बन्धित नवीन तथा मौलिक सामग्री संकलित की गई है । मूल्य १० रुपए ।

४. शोध विशेषांक : 'हिन्दी अनुशीलन' के इस विशेषांक में हिन्दी शोध की समस्याओं पर विभिन्न विद्वानों के विचार संकलित हैं तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी में स्वीकृत शोध प्रबन्धों तथा स्वीकृत विषयों की सूची दी गई है । मूल्य ५ रुपए ।

५. हिन्दी अंग्रेजी वैज्ञानिक कोष : सम्पादक डा० सत्यप्रकाश । प्रथम दो खण्डों का मूल्य है ६ रुपए ।

६. भौतिक विज्ञान कोष : संपादक डा० सत्यप्रकाश । मूल्य रु० २.१२ पै० ।

पुस्तकें मिलने का पता

कोषाध्यक्ष, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद-२



भारत के हर भाग में पहुँचने वाला—

वा ता य न

साहित्यिक मासिक

१९६६
में
जनवरी
से
दिसम्बर
तक

१. वार्ता

६-७-८ अन्तर्प्रान्तीय

२. भाषा

कहानियाँ

३. आज का पाठक

९. साक्षात्कार

४. गीत

१०. हिन्दी कहानियाँ

५. विदेशी कहानियाँ

११-१२. सृजन मूल्यांकन

एक प्रति का मूल्य : १.०० वार्षिक शुल्क : १०.००

● एजेन्ट्स अपने आर्डर भेज कर प्रतियाँ सुरक्षित करा लें.

● ● विज्ञापनदाता अपने आर्डर प्रत्येक माह की १५ ता० तक भेजें.

—सम्पर्क सूत्र—

५, डागा बिल्डिंग बोकानेर.



नई धारा

फरवरी-मार्च ६६ का अंक

समकालीन कहानियाँ अंक

समकालीन कहानीकारों की रचनाओं ने भरपूर

परिसंवाद और इन्टरव्यू से परिपूर्ण

सं० : श्री कमलेश्वर

अभी से 'नई धारा' के ग्राहक बनने वालों को यह अंक बिना अतिरिक्त मूल्य मिलेगा। विज्ञापनदाता अपना स्थान सुरक्षित करा लें—एजेन्ट अपनी प्रतियाँ रिजर्व करा लें :

पृष्ठ संख्या २००

चित्रित

मूल्य २)

नई धारा, पटना—६,



बच्चों को

आम तौर पर होनेवाली तकलीफों
जैसे सर्दी, जुकाम, पतले दस्त
पेट का बढ़ जाना आदि का.....
मुक़ाबला करने के
लिए काफ़ी ताक़त
पैदा करता है ।

इन्फ़ण्टीन ग्राइप वॉटर सब बच्चों के लिए हर मौसम में
आदर्श व लाभदायक है ।

निर्माता : हैदराबाद केमिकल एण्ड फ़ार्मास्यूटिकल वर्क्स लि०
हैदराबाद-आन्ध्र प्रदेश



क्रिस्टिना बुनाई के
घागे में लिपटा हुआ
प्रेम से ओतप्रोत

बम्बई वूलेन्स के अपने लाइले कोला (भालू) की तरह वह भी सुख और गरमाहट का अनुभव कर रहा है। क्रिस्टिना के हाथ के बुने मुलायम और गरम ऊनी कपड़े बच्चे को सर्द और तूफानी मौसम में आराम से रखते हैं। बम्बई वूलेन्स के बुनाई ऊन तेरह आधुनिक और भिन्न-भिन्न किस्मों और आकर्षक रंगों में मिलते हैं। कोला भालूका चिन्ह देख कर ही ऊन खरीदिये ■ इसे कीड़े नहीं काटते ■ इसमें सिकुड़न नहीं आती और ■ इसका रंग पक्का होता है।



'TERYLENE'
Polyester ICI Fibre

दि बम्बई वूलेन मिल्स
(प्राइवेट) लिमिटेड
२०, हमाम स्ट्रीट, बम्बई-१